साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत कोंकणी यात्रा-वृत्तांत

हिमालय में

रवींद्र केळेकार

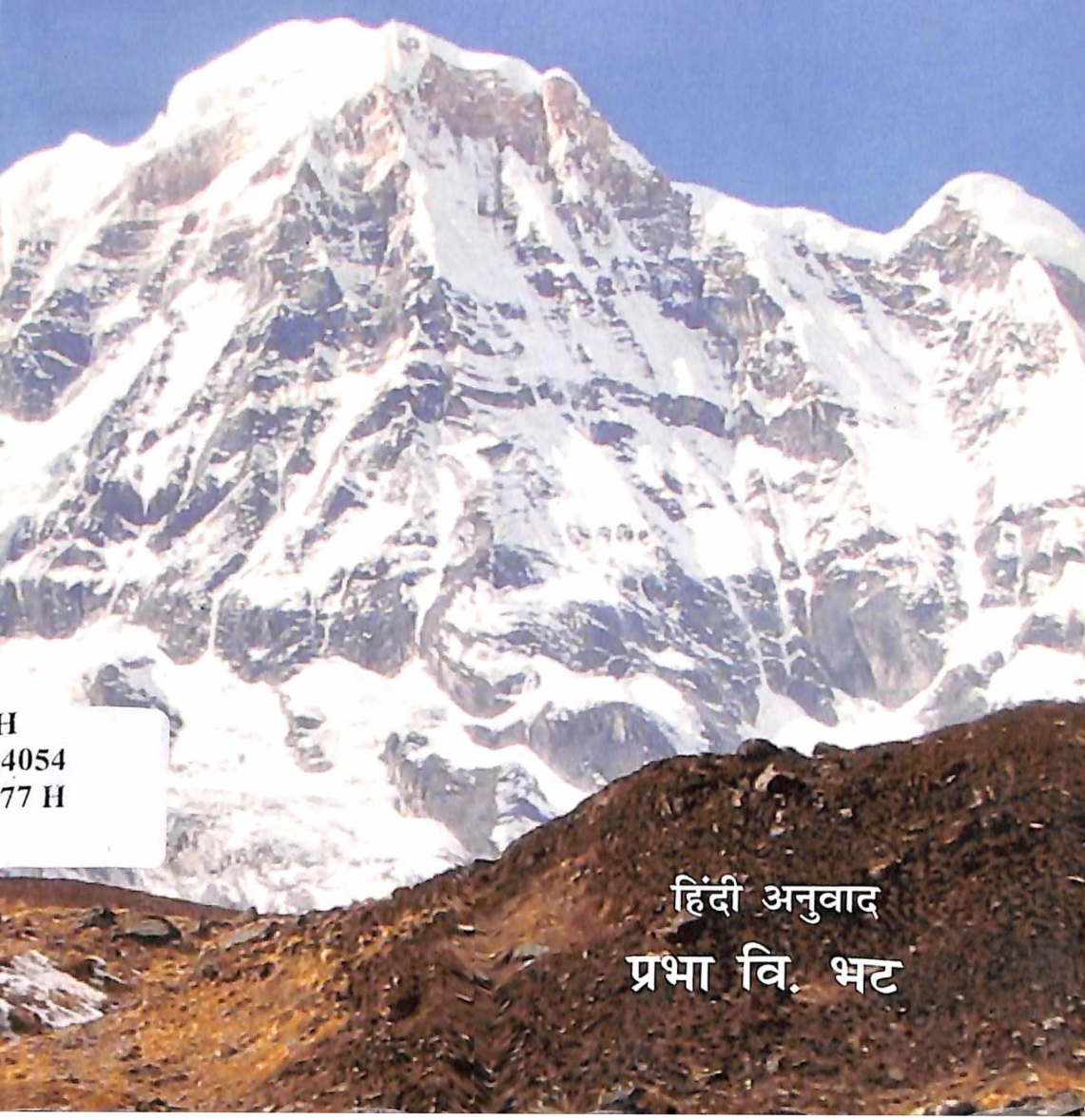

H
4054
77 H

हिंदी अनुवाद

प्रभा वि. भट

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुन कोंडा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली।

साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत कोंकणी यात्रा-वृत्तांत

हिमालय में

रवींद्र केळेकार

हिंदी अनुवाद

प्रभा वि. भट

साहित्य अकादेमी

Himalaya Men : Hindi translation by Prabha V. Bhat of award-winning konkani travelogue *Himalayant* by Ravindra Kelekar, Sahitya Akademi, New Delhi (2014), ₹ 75.

H
910.4054
K 277 H

© साहित्य अकादेमी
प्रथम संस्करण : 2014

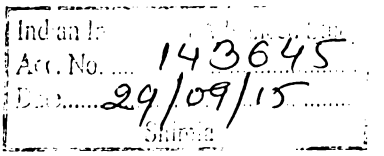

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवींद्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली-110 001
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली-110 001
वेबसाइट: www.sahitya-akademi.gov.in
ई-मेल: sahityaakademisale@yahoo.com

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014
4, डी.एल. ख़ान मार्ग, कोलकाता-700025
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. वी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलूरु-560 001

चेन्नई कार्यालय
मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई-600 018

ISBN 978-81-260-4322-4

मूल्य : पचहत्तर रुपए

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

Library IIAS, Shimla
H 910.4054 K 277 H
143645

लेखकीय

1956 की गर्मियों में मैंने हिमालय की यात्रा की थी। दिल्ली से बाहर निकला तब कहाँ जाना है, ठीक से पता नहीं था। कश्मीर से कामरूप तक हिमालय फैला है। एक बार पैदल ही जाकर उसे देख आने की इच्छा थी। ऋषिकेश में पता चला कि संपूर्ण हिमालय को एक बार की यात्रा में देखकर आना संभव नहीं है। इसलिए इस बार केवल उत्तराखंड की ही यात्रा करने निकला।

उसके बाद जो क़दम बढ़े वह पैंतालीस दिनों तक नहीं रुके। दिन में दस बारह, कभी-कभी पंद्रह-बीस मील चलते-चलते छह सौ मील घूमते हुए जमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बदरीनाथ आदि उत्तराखंड के प्रमुख धामों को देखा। इतने में बरसात का मौसम शुरू होने के कारण हिमालय के रास्ते बंद हो गए।

जाते समय मैंने छोटी-सी एक टिप्पणी की किताब जेब में रख ली थी । हिमालय में आसानी से कोई नहीं पहुँचता। मैं बहुत सारी कठिनाइयों, बाधाओं से गुज़रते हुए पहुँचा हूँ। फिर यहाँ आऊँगा, इसका विश्वास नहीं था। देखे हुए दृश्य एवं अनुभवों को इस टिप्पणी पुस्तक में लिखकर रखना, अगर आगे चलकर कहीं यात्रावृत्तांत लिखना चाहूँ तो ये टिप्पणियाँ उपयोग में आएँगी, ऐसा सोचकर हर दिन मैं रात में सोने से पहले उस दिन देखे गए दृश्य, अनुभव को लिखकर रखूँगा, यात्रा पूर्ण करके आने पर लिखने बैठ सकूँगा—मन में ही निर्णय किया था।

पर हिमालय से वापस आने पर शीघ्र ही कोंकणी की राजनीति में फँस गया। बाद में बारह सालों तक इसी राजनीति में उलझ गया, कहूँ तो ग़लत नहीं होगा। 1967 की जनवरी में हम ओपिनियन पोल (जनमत गणना) जीत गए। इतने साल राजनीति में फँसे मेरे मन ने राहत की साँस ली। अब गहराई से जीवन को किसी और दिशा में ले जाना चाहिए।

मुझे फिर हिमालय की याद आई। उस समय यात्रा में लिखी हुई टिप्पणी की पुस्तक ढूँढ़कर पढ़ने लगा। अचरज की बात यह थी कि मैं इस यात्रा के किसी भी

पल को भूला नहीं था। ग्यारह साल पहले की गई यात्रा के चित्र आँखों के सामने उभरकर आ गए। अब उसको लिखकर पूरा करना है। नहीं तो...

काल पीबति तद् रसम्।

मैं लिखने बैठ गया। लिखते-लिखते गंगोत्री तक पहुँच गया। अर्थात् सबसे चिड़चिड़ी, बाधाओं से युक्त यात्रा के दिनों का वर्णन लिखकर पूरा किया था। अभी पच्चीस दिनों की साढ़े-चार सौ मील की यात्रा की यादों को लिखना था।

उतने में जापान जाने का संयोग हो गया।

जापान देश के इतिहास-भूगोल की यादों को मन में रखकर हिमालय का यात्रा-वृत्तांत लिखने लगा तो हिमालय के साथ अन्याय होगा। हिमालय के साथ न्याय करने जाऊँगा तो जापान के साथ अन्याय होगा—ऐसा सोचकर गंगोत्री तक के यात्रानुभवों को लिखकर, यहीं रुकना उचित होगा, ऐसा निर्णय लिया।

पाठकों के ऋण का आधा भाग ही मैंने चुकाया है, यह मुझे पता है। बाक़ी आधा ऋण बचा है। उस ऋण को पूरा करने तक मुझे हिमालय अपने पास आने नहीं देगा। वैसे भी मुझे अभी आधा हिमालय देखना बाक़ी है। मैं अभी कश्मीर नहीं पहुँचा। अभी अमरनाथ नहीं देखा है। सिक्किम व भूटान कब देखकर आऊँगा, पता नहीं। एक बार कैलाश-मानस देखकर आना है, सोचा है। अब कैलाश मानस चीन देश में होने पर भी मेरा भारतीय मन मुझे पुकार-पुकार कह रहा है—''हज़ार-हज़ार वर्षों की भव्य परंपरा की यात्रा खंडित नहीं होनी चाहिए...'' आज भी मुझसे वहाँ जाना संभव नहीं हुआ। केदार, बदरी की बात नहीं लिखूँगा तो हिमालय मुझे बाक़ी बचा स्थान नहीं दिखाएगा।

पानी को सदा बहते रहना चाहिए, मानव को घूमते रहना चाहिए—इस नियम का पालन करनेवाला मैं। मुझे जब भी समय मिलता आगे-पीछे सोचे बग़ैर मेरा मन यात्रा के सपने सँजोते रहता है। सिंदबाद को सागर की लहरें जैसे हाथ लहराकर बार-बार बुलाती थीं, वैसे मुझे अलग-अलग सागर की लहरें बुलाती रहती हैं।

कहीं कुछ पढ़ा था :

सैर कर दुनिया की ग़ाफ़िल, ज़िंदगानी फिर कहाँ!
ज़िंदगी गर कुछ रही तो नवजवानी फिर कहाँ...

मेरी नवजवानी अभी ख़त्म नहीं हुई है। पर हर साल एक-एक साल कम होता जा रहा है, यह मैं देख रहा हूँ। उस समय मुझे एक प्रकार का अवसाद सताता है। मैं ख़ुद से ही कहता हूँ—''यह जवानी जाएगी तो फिर नहीं आएगी। उसकी जगह बुढ़ापा आ जाए तो मरते दम तक छोड़कर नहीं जाएगा। 'अब नहीं होगा' कहने से पहले जो भी देखना है देखकर आ...।'' बहुत कुछ देखने का मन तो है। पर क्या वह सब देखना मुझसे संभव होगा, भगवान ही जाने । पर इतना सच है, जो भी इस किताब को पढ़ेगा, जैसे मुझमें कसक उत्पन्न हुई थी, वैसे ही देश घूमने का, संसार को पैदल घूमकर देखने का, सहजता से किसी ने न देखा हो ऐसे स्थानों को देखने की इच्छा हुई तो सच में मुझे बहुत ख़ुशी होगी। इसके अलावा मैंने अभी कुछ देखा नहीं, देखना संभव नहीं हो पाया, ऐसी जो अतृप्ति है वह दूर होगी। मुझे लगेगा मेरी रचना को इतना ही यश मिले तो काफ़ी है।

एक ने कहा है, ''गद्य को कितना ही परिष्कृत करें परिष्करण का कार्य ख़त्म नहीं होगा।'' मेरा अभिप्राय भी यही है। 1967 में *राष्ट्रमत दैनिक* पत्र में यह वृत्तांत प्रकाशित हुआ था। अब नौ-दस सालों के बाद भी वैसे ही प्रकाशित कैसे करें? मैंने अपने पहले के लेखन में बहुत कुछ सुधार किया है।

मेरे लेखन में सुधार करने पर भी इसमें जो मैंने सोचा नहीं, यात्रा में जिसे देखा नहीं, उसे नहीं आने नहीं दिया—इतना अवश्य कह सकता हूँ।

गोवा
11.09.1976

—रवींद्र केळेकार

मुझमें हिमालय का आकर्षण बहुत है। हर साल वहाँ जाने का इरादा करता हूँ। हर साल 'इस साल जाऊँगा ही' ऐसा निश्चय करता, निकलने का दिन भी तय करता, तैयारी में लग जाता, और अब निकलूँगा सोचता, इतने में कुछ काम निकल आता था और जाना स्थगित हो जाता था।

ऐसा आठ-दस साल तक होता रहा। अंत में एक साल मैंने संकल्प किया कि चाहे जो हो जाए, इस वर्ष मैं जाऊँगा ही, नहीं तो हिमालय का नाम भी नहीं लूँगा।

जब मैंने यह निर्णय लिया, तब वर्धा में था । वहाँ मेरे दो प्रिय मित्र थे। जब भी मेरे मन में नए विचार आते थे तो सबसे पहले उन्हें बताना मेरा नियम था। मैंने उन्हें अपनी हिमालय यात्रा के सपने के बारे में बताया। शायद उनके मन में भी हिमालय घूम रहा था। उन्होंने कहा—''हमारे मन में भी जाने की बात है...''

''तो फिर ठीक है... हम सब साथ चलेंगे'', मैंने कहा। हम सब तैयारी में जुट गए। कहाँ जाएँगे, कैसे जाएँगे, साथ में क्या-क्या ले जाना है, सब तय हुआ और जाने का दिन भी तय हुआ।

जाने के लिए कुछ ही दिन बाक़ी थे, पता नहीं किसने चिंक मारी किसे ख़बर, मेरे सामने एक बड़ी-सी अड़चन आकर खड़ी हो गई। उस अड़चन को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया, पर कुछ हो न सका।

परिणाम यह हुआ कि मेरे मित्र चले गए और मैं रह गया। ''मेरे नसीब में शायद हिमालय नहीं है, नहीं तो ऐसा नहीं होता''—निश्वास लेकर कहा और हिमालय का नाम तक लेना छोड़ दिया।

कहते हैं समय से पहले कुछ भी नहीं होता है। जैसे बाँस पकने से पहले उसे झुकाया नहीं जा सकता। मैं वर्धा से दिल्ली चला गया और वहाँ किताबों की दुनिया में विचरण करने लगा। बड़े-बड़े व्यक्तियों से परिचय हो रहा था, मैंने कुछ

धन भी कमा लिया, ख़ुश था। अचानक एक दिन दिल्ली से मन उकता गया। ऐसा लगने लगा—अगर इसी 'मोगलाई जीवन में रहूँगा तो जल्दी ही बूढ़ा हो जाऊँगा। जीवन में कुछ भी नहीं कर पाऊँगा। पगार, प्रमोशन, पेंशन के जाल में फँसकर जीवन अर्थहीन हो जाएगा।' 'यह एक क्षण का वैराग्य तो नहीं' इसी भ्रम में कुछ दिन तटस्थ रहा। अंत में एक दिन किसी को बताए बिना काम से त्यागपत्र दे दिया।

दिल्ली छोड़कर कहाँ जाना है, निश्चित नहीं था। क्या करना है, पता नहीं था। मेरे सारे पुराने बंधन छूट चुके थे, नए बंधनों से अभी बँधा नहीं था, मन थोड़ा खुला-खुला था। अचानक हिमालय की याद आई।

मैंने गोदु से पूछा—"हिमालय की यात्रा कर आएँ?"

विवाह के समय 'ऊँ ऋतुभ्य:' कहकर दोनों ने शपथ ली थी, उसने उत्तर दिया, "चलेंगे।"

आठ-दस दिनों में ही पूरी तैयारी कर ली। और एक दिन रात में क़रीब दस-साढ़े दस बजे मसूरी एक्सप्रेस से निकले। हम दोनों के अलावा और दो लोग हमारे साथ निकले—एक मेरा भाई देवेंद्र, दूसरा मेरा मित्र नरेश मंत्री ।

उस दिन रामनवमी के कारण दिल्ली में बड़ा उत्सव हो रहा था।

आते समय ही रेलगाड़ी खचाखच भरी हुई थी। अंदर कैसे जाएँ, समझ में नहीं आ रहा था। लोगों को धकेले, रौंदे बिना अंदर घुसना आसान नहीं था। कुली ने हमारे सामान के साथ हमें कैसे अंदर धकेल दिया, वही जाने। बस। अंदर जाते ही एक उसाँस निकल गई। ख़ैर! कम-से-कम खड़े रहने के लिए तो जगह मिल गई। यही नसीब क्या कम था! गाड़ी को तो चलने दो, बाद में कोई तो हमें बैठने के लिए जगह देगा ही, न भी दे तो भी छह-सात घंटे का तो रास्ता है, सुबह से पहले हरिद्वार पहुँच जाएँगे। वहीं तो हमें उतरना है। उतनी देर तो खड़े रह सकते हैं। वैसे अंदर बैठे हुए लोगों को मैं पहचानता था। मुसीबत में धीरे से अंदर आए, खड़े हुए लोग, दूसरों की मुसीबतों को समझनेवाले, उसे कम करनेवाले लोग, डिब्बे में घुसने तक ही तुमसे लड़ेंगे, बाद में नहीं। उसके बाद तो वे हमारा परिचय प्राप्त कर लेंगे, अपना परिचय देंगे, तू पराया है यही भूल जाएँगे, तुझे अपना ही समझेंगे। यहाँ तक कि कभी-कभी अपनी यादें छोड़ जाएँगे। हर तरफ़ मैंने ऐसे लोगों को देखा है।

जैसे ही गाड़ी चल पड़ी, सच में उन लोगों ने हमें बैठने के लिए जगह बनाकर दी। जैसे-जैसे गाड़ी दौड़ रही थी, वैसे-वैसे मेरा मन भी दौड़ रहा था।

हिमालय जाकर आने की मेरी इच्छा कितने सालों बाद आज पूर्ण हो रही है, यह जानकर बार-बार मेरा मन ख़ुशी से झूम उठा। मेरा मन मुझसे पूछ बैठा—"इसमें इतनी ख़ुश होनेवाली बात क्या है?"

कहते हैं कि जो करना था कर लिया, जिसे भोगना था भोग लिया, अब बचे हुए दिनों में केवल रामनाम जपना है, और हिमालय की यात्रा करनी है। कभी-कभी जीवन के संकटों से उदासीन, दु:खी होकर मानव कहता है—"बस हो गया अब...हिमालय में जाएँगे" और वहाँ चला जाता है। करने के लिए बहुत कुछ था पर हो नहीं सका, भोगने के लिए भी बहुत कुछ था पर नसीब ने भोगने नहीं दिया। जब ऐसा लगता है तो मनुष्य निराश होकर हिमालय जाने की बात करने लगता है। मेरे जीवन में ऐसा कुछ भी घटा नहीं था। ईश्वर को पुकारने की इच्छा या स्थिति भी आई नहीं थी। निराशा के बादलों ने मन को घेरा न था; न सिर पर पापों की; निराशा की, तपस्या की, साधना की किसी पीड़ा ने मुझे बाँधा था। यौवनावस्था में मैं हिमालय जाना चाहता था, एक दूसरे कारण से। वहाँ जंगलों में घूमना चाहिए, वहाँ रास्तों पर पैदल चलना चाहिए, वहाँ पहाड़ों पर चढ़ना चाहिए, वहाँ नदी किनारे बैठकर चारों ओर की प्रकृति के सौंदर्य का आस्वादन करना चाहिए, आदि ऐसे ही कुछ कारण होंगे—निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। हिमालय के गहरे आकर्षण का यह संस्कार शायद बचपन से मेरे मन में घर कर गया था।

इसी बीच मुझे लगा—कहीं मैं सपना तो नहीं देख रहा। क्या मैं सचमुच हिमालय पर जा रहा हूँ? मैंने ख़ुद को चिकोटी काटकर देख लिया, पता चला मैं सपने में नहीं था, जाग रहा था।

पता नहीं, कितनी देर सोचते बैठा रहा।

रेल की बोगी में लोग कैसे-कैसे बैठे थे, मैंने हर एक का चेहरा ध्यान से देखा। ये लोग हर दिन रेल का सफ़र करके काम पर जानेवाले नहीं थे। ये तो तीर्थयात्रा पर निकले लोग हैं, यह उनका सामान देखकर ही पता चलता था। मतलब यह कि सब हरिद्वार में उतरेंगे। शायद हृषिकेश भी जा रहे होंगे! क्या इनमें हमारे जैसे हिमालय यात्रा पर जाने वाले भी होंगे?

मेरी बात और है। मुझे तो घूमने का शौक़ है। देश के लिए ख़ुद को समर्पित करना चाहा। उसके लिए बड़े-बड़े देशभक्तों के भाषण सुनने जाने लगा। सब एक ही आवाज़ में कह उठते—"यदि देश सेवा करनी है तो पहले देश के बारे में जान लो.... देश को जानने के लिए ख़ूब सैर करो।" कोमल-नाज़ुक मन पर इन उपदेशों का प्रभाव पड़ने लगा। उस दिन से घूम रहा हूँ। कुछ जगहों को छोड़कर बाक़ी

सब स्थानों पर घूम चुका हूँ। देश की 'सेवा' मेरे हाथों से कितनी हुई, देश ही जाने! पर बहुत यात्रा की, शायद इसलिए देश से प्यार करना सीख गया, इसमें कोई संदेह नहीं।

पर ये लोग क्यों घूमते हैं?

मेरे सामने एक औरत बैठी थी। शायद पचास साल की होगी। वेशभूषा से पंजाबी लग रही थी। मेरी नज़र बार-बार उस पर जा टिकती। लगता, सारे सांसारिक आकर्षणों से गुज़रकर आई हो। पति नहीं था या फिर अपने प्रिय पुत्र को खो चुकी हो! स्त्रियों के जीवन में यही तो दो प्रमुख दुःख हैं। वही इसके हिस्से में आए हैं क्या? जीवन में उसने क्या-क्या भोगा है, क्या पता? चेहरे पर दिखाई देने वाली उदासी शायद इन्हीं दुःखों के कारण तो नहीं है?... शायद हो सकती है। मानव के जीवन में आने वाले दुःख, वेदना ही तो उसे रूपायित करते हैं, उसे ऊपर उठाते हैं। अपने ऊपर इसी प्रकार की पीड़ा, दुःख को आने दो कहकर कुंती ने श्रीकृष्ण से जो प्रार्थना की थी वह ऐसी ही नहीं थी। पीड़ा और दुःखों का मेल उसी ने जाना था।

यह पंजाबन कुछ नया पाने के लिए तो यात्रा नहीं कर रही है? सोचते-सोचते कब आँख लग गई, पता ही नहीं चला। अचानक एक शोर से मेरी आँख खुल गई। सब अपनी-अपनी जगह से उठ खड़े हुए थे, सुबह हो गई थी। गाड़ी हरिद्वार पहुँच गई थी। आधे से ज़्यादा लोग गाड़ी से हमारे साथ उतर गए थे।

डरते-डरते हम नगर के अंदर चले। सुना था काशी, मथुरा के जैसे ही यह स्थान भी पवित्र है। इसलिए लगा—शायद काशी, मथुरा जैसे यहाँ भी हमें भिखारी, रोगी और मक्खियों का सामना करना पड़ेगा। शायद पंडे और साधु भी हमें सताएँगे। मुझे एक और चिंता भी सताने लगी। यहाँ ठहरेंगे कहाँ? धर्मशाला में? धर्मशाला साफ़-सुथरी होगी क्या? क्योंकि आज तक मुझे साफ़-सुथरी धर्मशाला देखने को नहीं मिली थी। तीर्थयात्रा पर निकले हमारे लोगों को जहाँ देखो वहाँ गंदगी फैलाने की आदत जो है! जिन-जिन 'पवित्र' धामों पर मैं गया हूँ, वहाँ-वहाँ मुझे इस दुर्गंध को सहना पड़ा है। जब सहन नहीं हुआ, तब हाथ में झाड़ू लेकर भंगी का काम भी करना पड़ा। आनेवाले संकट को कैसे दूर करूँगा, सोचते हुए घोड़ा-गाड़ी में बैठ गया। पर जैसे ही फेफड़ों में ठंडी-शीतल हवा अंदर गई तो संदेह होने लगा।

इस गर्मी में इतनी शीतल हवा? तब मैंने ख़ुद से कहा—''शायद हरिद्वार अन्य यात्रा-स्थलों से अलग होगा।''

ताँगा एक धर्मशाला के सामने रुका। हममें से एक उतरकर, अंदर कमरा ख़ाली है क्या, देखने गया। चार लोगों के लिए काफ़ी होने वाला एक साफ़-सुथरा कमरा हमें मिला। पर मैं जिस संकट से बचना चाहता था, उससे बच नहीं सका। हाथ में झाड़ू लेना ही पड़ा। कहा, चलो ठीक है। वर्धा में भंगी की ट्रेनिंग मिली थी, वह यहाँ काम आई। वैसे हमारे लोग साफ़-सुथरे होते हैं, अधिक साफ़-सुथरे कहें तो भी चलेगा। दिन में दो-तीन बार स्नान करेंगे। बर्तनों को घिस-घिसकर चमकाएँगे। रसोई में भी साफ़-सुथरा खाना पकाएँगे। कुछ सालों पहले वह किसी के हाथ का खाना तक नहीं खाता था। आज भी कुछ स्थलों पर ऐसी ही सफ़ाई है। इतना होने पर भी क्या पता उन्हें अपने घर का आँगन साफ़ रखना नहीं आता। उनके घर के सामनेवाला रास्ता कभी साफ़ नहीं रहता। शरीर पर साफ़-सुथरे कपड़े होने चाहिए, यह भी उन्हें कई सालों से मैं कहते आया हूँ—स्कूलों में 'सफ़ाई' को एक विषय के तौर पर सिखाए बग़ैर इस देश की सफ़ाई की रक्षा करना नामुमकिन है। ज़रूरत पड़ने पर स्वच्छता के लिए एक अलग 'मिनिस्ट्री' चलाएँगे तो भी ग़लत नहीं है। हरिद्वार जाकर हमने जो पहला काम किया वह भंगी का था, फिर हम हाथ-पाँव धोकर घूमने निकले।

हरिद्वार में भिखारी थे, रोगी थे, साधु-संन्यासी-पंडे तो इतने कि गिनती नहीं कर सकते। पर मक्खियाँ नहीं थीं। इस देश में बिना मक्खियों के तीर्थस्थान विरले ही होंगे। ऐसा लगा, हिमालय के नज़दीक होने से, उसके गौरव की रक्षा के लिए यह स्थान आगे बढ़ा होगा। किसी ने कहा—''साधुओं के कारण यह स्थल निर्मल होगा।'' हो सकता है, पर एक बात तो सच है, यहाँ की नगरपालिका जागरूक है— इसमें कोई संदेह नहीं। मुझे यहाँ अलग ही परिवेश देखने को मिला। इस प्रकार का वातावरण इससे पहले किसी हिंदू तीर्थ-स्थान में देखने को नहीं मिला था। तीर्थ-स्थानों में खाने-पीने की बढ़िया व्यवस्था न हो तो भी चलेगा। रहने की भी व्यवस्था ठीक न हो तो चलेगा। पर तीर्थ-स्थान कहते हैं तो वह निर्मल हो, ऐसा मैं समझता हूँ। मेरी भावना है कि हर दिन की उलझनों, झंझटों से अपने चित्त को बाहर निकलकर ख़ुश और तरोताज़ा कर सकें, ऐसा एक वातावरण निर्मित करने वाला स्थल वह अवश्य हो। लगा—हरिद्वार ऐसा ही एक निर्मल तीर्थ स्थान है, प्रकृति-सौंदर्य की गोद में बसा एक सुंदर सजीला मैदान।

हिमालय के सामने शिवालिक अथवा शिवलिंग पर्वतों की एक क़तार है। हिमालय से उतरकर बहने वाली नदियों के लिए इन्हीं पहाड़ियों ने रास्ता दिया है।

हिमालय के सौंदर्याकर्षण में बँधा व्यक्ति कितनी ही बार इन शिवलिंग पर्वतों को भूल जाता है। इतना ही नहीं, उसे ही हिमालय मानकर थोड़ा-बहुत अन्याय भी करता है। हिमालय में हिम की विभुता रही होगी, पर शिवलिंग पर्वतों में घने जंगलों का वैभव भरा है। तोल-मोल के देखें तो यह कोई छोटी बात नहीं हैं। ऊँचाई में हिमालय शिवलिंग पर्वतों से श्रेष्ठ हो सकता है, पर आयु की दृष्टि से वह कल-परसों का बच्चा है। शिवलिंग पर्वत उससे बहुत-बहुत पुराना है। करोड़ों साल पहले धरती पर जीवों का जो इतिहास शुरू हुआ, उसके कितने ही समाचार, कहानियाँ इन शिवलिंग पर्वतों से सुनने को मिलेंगे। हिमालय एवं शिवलिंग पर्वतों की रचना भी अलग-अलग ही है। इन्हीं शिवलिंग पर्वतों की छाया में हरिद्वार बसा है।

हम लोटा, तौलिया आदि लेकर ही निकले। धर्मशाला से कुछ ही दूर जाने पर हमें सीढ़ियाँ मिलीं। उन सीढ़ियों के दोनों पार्श्व में छोटी-छोटी दुकानें थीं। काले मनके, कुंकुम, बर्तन, कपड़े, किताबें, जूते आदि हर प्रकार की चीज़ें यहाँ मिलती थीं। अचानक चलते-चलते और आगे गए, बाईं तरफ़ एक मैदान मिला और दोनों तरफ़ धाराओं में बहती गंगा नज़र आई। उसकी दोनों धाराओं को अलग करने वाला काश्मीर पाषाण का प्लेटफ़ॉर्म जैसा वहाँ एक घाट है और घाट के बीच में एक बिजली का खंभा है। उस पर बिजली से चलने वाली एक घड़ी है। घाट के इस पार कई मंदिर हैं। मंदिर से छूकर जाने वाला एक पुल भी है। हरिद्वार में मुख्य रूप से देखने लायक़ स्थान यही है। 'हरि की पैड़ी' नाम है इसका।

हम सीढ़ियाँ उतरकर पुल पर से होते हुए घाट पर गए। चारों ओर नज़र घुमाकर प्रकृति-सौंदर्य का आस्वादन करने लगे। उत्तर की ओर जैसे ही नज़र गई तो देखा नदी के दोनों तरफ़ शिवलिंग पर्वत जैसे दौड़ते-दौड़ते उससे पहले जाकर वहाँ खड़ा है। नीले आसमान के बीच छाए शिवलिंग पर्वतों को देखने पर समझ में आ गया कि हरिद्वार को गंगाद्वार क्यों कहते हैं। महादेव की जटा-सी आड़ी-तिरछी हिमालय के लाखों पर्वतों में फँसी गंगा अपना मार्ग बनाते हुए नीचे उतरती है तो उसे पहला खुला मैदान यही मिलता है। पुराणों में गंगावतरण का जो वर्णन पढ़ा था, उसका हूबहू वास्तविक चित्र यही था।

मंदिर के एक पार्श्व में बहने वाली गंगा की इस धारा को 'ब्रह्मकुंड' कहते हैं। बहुत सारे लोग इस कुंड में स्नान करने के लिए उतरे थे। हम भी उतर गए। पानी की धारा तेज़ थी। अच्छा ही था। उस घाट को लोहे की ज़ंजीरों से बाँधा था। इन ज़ंजीरों को पकड़कर नीचे उतरे इसलिए बच गए, नहीं तो बह जाते। एक दो बार डुबकी लगाने से ही नींद से बोझिल रात की थकावट एक क्षण में दूर हो गई।

ठंडे-ठंडे पानी ने मन को आह्लादित किया। मछलियों ने शरीर की गंदगी को मानो धो डाला। यहाँ आने पर यहाँ की आबोहवा ने मेरे मन को मोह लिया था, अब पानी ने भी मन मोह लिया।

कुंड में स्त्री, पुरुष, युवक, बड़े-बूढ़े सभी एक साथ स्नान कर रहे थे। किसी में कोई संकोच नहीं था। न किसी ने लज्जावश शरीर को सिकुड़ने का प्रयास ही किया। यौवन की वह लज्जा किसी में नहीं थी, न कोई किसी को बुरी नज़र से देख रहा था। पानी को सामान्य पानी समझने की स्थिति से सभी ऊपर चले गए थे, और एक प्रकार की भक्ति-भावना से प्रेरित होकर शरीर पर पानी उड़ेल रहे थे। पानी के साथ मन का योग भी जुड़ गया था। कारण, हमारे मन की गंदगी के साथ हमारे शरीर की गंदगी भी धुल रही थी। आँखों को दिखाई न दे, ऐसी तक चेतना पूरे संसार में घिर गई है। उसने हमारे मन को मायाजाल से घेर लिया था। कहते हैं—भगवान को पाने के लिए चित्त का पवित्र होना ज़रूरी है। मुझे, लगा चित्त को निर्मल करने के लिए ऐसे स्नान की आवश्यकता है.....।

स्नान करके जब निकला तो मन तरोताज़ा हुआ। घड़ी के खंभे के पास गया और एक जगह बैठा। आँखें बंद करके ध्यान करने के 'मूड' में आया था, पर आँखें बंद नहीं हो रही थीं। कुंड में स्नान करने वालों को देखता रह गया।

मैं चिंतन करने लगा।

हमारे पूर्वज कितने बड़े समाजशास्त्री थे। शायद उन्होंने इस पूरे देश में घूमकर देखा होगा। उन्हें यहाँ जैसे सफ़ेद चमड़े के नीली आँखों वाले नज़र आ गए, वैसे ही काले चमड़े के घुँघराले बालोंवाले भी दिखे होंगे। संसार के विभिन्न मानव कुलों को जैसे उन्होंने यहाँ देखा वैसे संसार में बसी विभिन्न संस्कृतियों को भी यहाँ देखा। भगवान ने ऐसे अपरूप के बहुरूपों को यहाँ क्यों निर्मित किया, उन्हें पता होगा। ऐसा बहुवंशी, बहुधर्मी देश संसार में क्या कहीं होगा? इस प्रश्न का उत्तर उन्हें 'ना' में मिला होगा। बाद में ऐसा भी लगा होगा कि भगवान इस देश के लोगों से कार्य करवाना चाहता होगा। फिर उन्होंने निश्चय किया होगा कि इस देश की बहुरूपता को, विविधता को मान्यता देते हुए, सही वातावरण का निर्माण कर, सभी के हृदयों को जोड़ने के लिए क्या करना होगा। तो उन्होंने एक समाज धर्म की रचना की और इस देश में रहने वालों के लिए एक नियम बनाकर दे दिया :

''चलते रहिए तो आपका भाग्य भी चलता रहेगा और आपके साथ आपके देश का भाग्य भी चलता रहेगा। चुपचाप बैठेंगे तो आपका भाग्य भी बैठा रहेगा।''

उन्होंने कहा—''पानी को देखा है न? वह बहते रहता है, इसलिए निर्मल रहता है। अगर उसने बहना छोड़ दिया तो वह सड़ जाएगा, उसमें कीड़े पड़ जाएँगे। पानी को जैसे बहते रहना चाहिए, वैसे ही मनुष्य को भी चलते रहना चाहिए।''

इसी नियम के अनुसार पुराने ज़माने के लोग शिक्षा पाने के लिए अपना गाँव तक छोड़कर जाते थे। अयोध्या में वशिष्ठ जैसे ऋषि थे। पर दशरथ ने अपने पुत्र श्रीराम को दूर के स्थान में रहने वाले विश्वामित्र के पास विद्यार्जन के लिए भेजा था। विद्यार्जन के लिए कृष्ण मथुरा छोड़कर उज्जयिनी के संदीपनि के आश्रम में रहे। पाटलिपुत्र के राजकुमार के लिए नालंदा नज़दीक था, पर वे पंजाब के सीमावर्ती प्रदेश तक्षशिला में जाकर पढ़े। इस प्रकार दूर जाकर पढ़ना और पढ़ाई पूर्ण करके घर लौटने से पहले पूरे देश में घूमना, अलग-अलग स्थानों पर जाना, वहाँ के सांस्कृतिक केंद्रों में जाकर रहना, सत्पुरुषों के सत्संग में रहकर जीवन की समस्या, प्रश्नों पर विचार करने के बाद ही विवाह करने का अवसर मिलता था।

विवाहित लोगों के लिए भी अलग-अलग यात्राएँ थीं। जब भी अवसर मिलता वे यात्रा करते। कभी 'त्रिस्थली' की यात्रा करते। प्रयाग, काशी और गया ऐसे तीन स्थलों की यात्रा करके लौटते। कभी 'चार धामों' की यात्रा करते। काशी जाते वहाँ से लोटे में गंगाजल भर लाते और उसे ले जाकर रामेश्वर के सागर में उड़ेल देते। वहाँ की बालू ले लेते और उसे हरिद्वार आकर गंगा में बहा देते। पश्चिम दिशा में द्वारका, पूर्व दिशा में जगन्नाथपुरी, उत्तर में ज्योर्तिमठ और बद्रीकाश्रम, दक्षिण में रामेश्वरम—ऐसे भारत देश के चारों दिशाओं में भ्रमण कर आते। रोज़मर्रा के जीवन में बार-बार उन्हीं चेहरों को देखकर, हर बार उन्हीं में व्यस्त उदासीन मन, यात्रा में निकलते ही नए-नए अनुभव पाने के लिए उत्सुक हो जाता। नए-नए स्थानों को देखने, नई-नई भाषाओं को सुनने, विभिन्न रीति-रिवाजों को देखने से यात्री का मन उदात्त होता और शरीर सदृढ़। वह कष्टों को सहने, श्रम करने का अभ्यस्त हो जाता। उसकी बुरी आदतें भी छूट जातीं।

यात्रा में एक और प्रकार था, जिसे 'परिक्रमा' कहते थे। अर्थात् मनुष्य एक बड़ी नदी को चुन लेता, अपने मुख की ओर आने वाली नदी को अपनी बाईं ओर रखकर चलते-चलते नदी के उद्गम-स्थान तक जाता, वहाँ पहुँचकर फिर नदी को अपनी बाईं ओर रखकर नदी के मुख तक आ जाता। अधिक यात्रा वह पैदल ही करता।

इस प्रकार के नियमों के कारण ही देश सांस्कृतिक दृष्टि से एक हुआ। आज भी लोग इन नियमों का पालन करते हैं। इसलिए देश की संस्कृति में एकता है।

मैं घाट पर बैठकर सोचने लगा—इन पुराने नियमों को रूप कैसे दिया जा सकता है? स्वार्थी नेताओं के कारण बिखरा, बलहीन हमारा राष्ट्रीय जीवन एक बार फिर कैसे एक सूत्र में बाँधा जाए—इसका उपाय ढूँढ़ने लगा। मेरी आँखों के सामने कुछ दृश्य तैर गए। गोवा पुर्तगाल के प्रशासन से मुक्त हुआ है। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई छोटे बच्चों को लेकर मैं यात्रा पर निकला हूँ..... हमारे बच्चे कॉलेज शिक्षा के बाद एक साल तक समय निकालकर देश में हर जगह घूमते हैं, ऐसे कई दृश्य मेरी आँखों के सामने दिखाई देने लगे।

हमारे एक साथी ने पुकारा न होता तो कुछ देर और मैं इस दिवा-स्वप्न में खोया बैठा रहता। हम धर्मशाला में लौटकर आए। दरी बिछाकर मैं कुछ देर सो गया। कमरे की खिड़की खुली हुई थी। खिड़की से दिखने वाला एक पहाड़ आ...आ...कर बुलाने लगा। उस पहाड़ का नाम था नीलपर्वत। पर्वत पर मनसा नाम की एक देवी का मंदिर भी था।

नरेश मंत्री ने कहा—"अभी समय है, यहाँ ऐसे सोते रहने से कहीं अच्छा है वहाँ जाकर देवी दर्शन कर आएँ।" हम धर्मशाला से निकले, पहाड़ पर चढ़ने लगे। बहुत धूप थी। मील भर चलने में एक घंटा लगा। मंदिर में जाकर देवी दर्शन करके बाहर निकले। सामने देखा तो ऐसा लगा जैसे प्रकृति में हरा रंग छा गया हो। मेरा मन हरिद्वार की वायु की तरह इधर-उधर दौड़ने लगा । अचानक गंगा नदी नज़र आई। कान में हवा के जाने से जिस प्रकार गाय का बछड़ा कूदता, दौड़ता है वैसे ही ही गंगा ख़ुशी के मारे कूदती हुई दौड़ रही है। हिमालय में फँसी नदी अभी-अभी खुले मैदान में आई थी। अपने ही जैसे हिमालय में फँसी अपनी बहन यमुना का क्या हुआ, इसे जानने के लिए, उसे अपनी कथा सुनाने के लिए और उसकी कथा सुनने के लिए, प्रयाग की दिशा में आतुरता के साथ दौड़ती निकली...

कुछ स्थलों में देखने लायक़ कुछ नहीं होता। पर पुराने समय में कुछ घटित हुआ रहता है, जिसके कारण उस स्थान का महत्व होता है। इसी महत्व के कारण हम उस स्थान पर जाते हैं और बाद में आँखें भले ही उस स्थान को निहारते रहती हैं पर मन उसके साथ नहीं होता। वह पुराने काल में विचरण करते रहता है।

मैं कई बार मथुरा गया हूँ। जब भी गया श्रीकृष्ण का ही जीवन मेरी आँखों के सामने खड़ा हो गया। वहाँ कुछ दूसरा मुझे दिखाई दिया ही नहीं।

हरिद्वार में भी मुझे ऐसा स्थल मिला। कनखल नाम का टूटी दीवारों का एक मंदिर। पीपल, बेल, अश्वय के कुछ वृक्ष इससे परे और कुछ नहीं था। दोपहर की धूप में वहाँ गया तो मेरी आँखों के सामने सतयुग का दक्ष प्रजापति आकर खड़ा हो गया। दक्ष के हाथों में सत्ता थी, इसलिए वह मदांध हुआ था। उसने एक यज्ञ किया। यज्ञ में उसने सभी देवताओं को सपत्नीक बुलाया था। केवल बुलाया नहीं तो महादेव को। महादेव उनके दामाद थे। पर वह उन्हें दामाद मानता नहीं था, कारण महादेव ग़रीब थे।

यज्ञ की ख़बर सती को लगी, सती दक्ष की पुत्री थी। उसने पति महादेव से कहा—"वहाँ इतना बड़ा यज्ञ हो रहा है, हम न जाएँ, यह ठीक नहीं लगता।" महादेव ने कहा—"बिना बुलाए कैसे जाएँ?...उन्होंने सबको बुलाया है, केवल हमें नहीं बुलाया..." सती ने उत्तर दिया—"कितनी ही बार जल्दबाज़ी में हम नज़दीक के लोगों को ही बुलाना भूल जाते हैं, शायद ऐसा ही हुआ होगा।" सती ने पति को तरह-तरह से समझाया। पर स्त्रियों के मन में छिपे मायके के आकर्षण को वे कैसे समझें? सती अकेली ही बिन बुलाए जाने के लिए तैयार हो गई। पति ने कहा—"देखो, वहाँ यदि तुम्हारा अपमान हुआ तो मैं चुप नहीं रहने वाला।"

सती मायके गई तो उसका स्वागत करने के लिए केवल माँ आई। पिता ने उसका, उसके पति का, पति के मित्रों का, साथियों का ख़ूब अपमान किया। सती को बहुत बुरा लगा। अपमान के कारण रोने लगी। लगा—पति अब क्रोधित हो जाएँगे, वे तो भोले शंकर है, पर यदि क्रोधित हो जाएँ तो कह नहीं सकते कि वे क्या करेंगे। मायके का नाश वह अपनी आँखों से कैसे देख पाएगी—ऐसा सोचकर उसने यज्ञ कुंड में छलाँग लगाई।

सती ने यज्ञकुंड में छलाँग लगाकर प्राण त्याग दिए। जैसे ही यह ख़बर महादेव को मिली, उनके क्रोध का पारा चढ़ गया। महादेव का क्रोध था, सब कुछ नष्ट करने वाला। उसने वीरभद्र को बुलाया और दक्ष के यज्ञ को नेस्तनाबूद कर दिया।

मेरी आँखों के सामने शिव का तांडवनृत्य उभर आया और पूरा शरीर थरथराने लगा।

मेरे मन में हमेशा कुछ सवाल आते रहते हैं। यहाँ भी वही सवाल मुझे सताने लगा। महादेव अर्थात् 'शिव' हमेशा अच्छा करने वाला, कल्याण करने वाला। लेकिन इतना क्रोधी क्यों? वह संहार क्यों करता है? नया कुछ निर्माण करने के लिए पुराना बहुत कुछ तोड़ना पड़ता है, सच है। पर क्या कल्याण करने के लिए

संहार करना ज़रूरी है? जीवन में मैंने देखा है—जब कुछ नुक़सान हो गया और मुझे पीड़ा हुई, दुःख हुआ। अंत में उससे मेरा अच्छा ही हुआ है, मेरा कल्याण ही हुआ है। क्या इसी अनुभूति को कवि ने शिव रूप दिया है?

कनखल में कितने ही साधु-संन्यासी दिखे। दक्ष यज्ञ को धूल-धूसरित करने के लिए वीरभद्र के साथ आए महादेव के गण क्या अभी भी यहाँ हैं, ऐसा मुझे भ्रम हुआ। मैं थोड़ा घबरा गया।

कनखल के गुरुकुल में आया। यह स्वामी श्रद्धानंदजी का स्थल है। आर्य समाज के पीछे दयानंद जी से लेकर श्रद्धानंद जी तक कितने ही तेजस्वी लोगों के बलिदान की कथा-शृंखला है। यही कारण है उनकी संस्थाएँ जीवंत संस्थाएँ बनी हुई हैं। जिनके हृदय में आग लगी हुई होती है उनका जीवन ही दूसरों के लिए रास्ता दिखाने वाला प्रकाश-दीप बन जाता है। आर्य समाज से इस देश के लिए एक प्रकार का प्रकाश मिला है।

लेकिन इन लोगों को यह पता नहीं है कि 'वाद में दूसरों को हराना आसान है, पर उसमें जीतना कठिन।' वे वाद-विवाद में कुश्ती लड़ने के लिए खड़े होते हैं। 'यह मेरा मत है.... इसे मान लो वरना इसे तोड़ दो'—ऐसा ज़िद करते हैं। समझते हैं दूसरों में अक़्ल नहीं है, उसे छेड़ते हैं, दुःखी करते हैं और बिना ज़रूरत के एक नया दुश्मन बना लेते हैं। 'अगर हम अपनी ज़िद नहीं छोड़ेंगे तो दूसरे भी अपनी ज़िद नहीं छोड़ेंगे।' यह इनके दिमाग़ में कभी नहीं आएगा। यदि आया होता तो अपने विचारों को, मत को विस्तारपूर्वक समझते और जब उन्हें लगता सब कुछ बारीकी के साथ समझाया है तो अपने वाद का अंत भी ख़ुद ही करते। सच कहें तो वाद-विवाद के बाद मिलने वाले एकांत में ही मानव दूसरों की बातों को समझने की चेष्टा करता है। हमें अपने मतों को समझाने का अवसर मिले तो हो गया, उसे हम अपने 'मतों का मंडन करना' कहते हैं। वाद के बाद जब मनुष्य अकेला होता है, अकेला रहता है और अपनी आत्मा से बातें करने लगता है, तभी उसे समझ में आता है। आर्य समाज के लोगों को इतना यदि समझ में आ गया होता, तो उनके हाथों से इस देश में कितने ही प्रकार के परिवर्तन हो जाते। कितनी बड़ी क्रांति उनसे हो जाती, ऐसा मुझे लगता है। क्या ऐसा परिवर्तन इसके बाद लाया जा सकेगा, सोचते हुए निराश हो गया।

गुरुकुल देखते-देखते संध्या हो गई। हमें 'हरि की पैड़ी' जाने की शीघ्रता थी। बहुत सारे लोगों ने कहा था—''कुछ भी कीजिए, पर हरि की पैड़ी की संध्या की आरती देखना मत भूलिए।'' हमने शीघ्रता से ताँगे को दौड़ने के लिए कहा।

संध्या का समय, प्रकाश धीमा हो रहा है। अंधकार अभी शुरू नहीं हुआ है। घाट का वातावरण पूरा बदल गया है। हर तरफ़ फूल एवं तुलसी के दल बिखरे पड़े हैं। मंदिर के भीतर की सुगंध पूरे घाट में समाई है। हज़ारों लोग—मिले हुए हर एक के हाथ में फूलों का एक-एक द्रोण और द्रोण में एक-एक छोटी-सी बाती है। इतने में टींग-टांग, टींग-टांग मंदिर की घंटी बजने लगी। मंदिर के सामने के घाट पर तीन-चार पुरोहित आकर खड़े होते हैं और पचास-पचास क्या पिचहतर-पिचहतर बातियों की आरती लेकर गंगा की आरती उतारते हैं। मनुष्य के हाथों से बनाई मूर्ति की नहीं, प्रकृति के एक रूप को आरती दिखाते हैं। मुझे लगता है कि इस प्रकार प्रकृति की पूजा केवल यहीं होती है, और कहीं नहीं।

टींग-टांग, टिंग-टांग घंटी बजने लगती है और इस तरफ़ घाट पर के लोग अपने-अपने द्रोण की बाती जलाकर द्रोण को गंगा में समर्पित करते हैं। उस समय घंटे के ताल पर द्रोण नाचते आगे जाते हैं और उस समय—

ऊँ जय जगदीश हरे! स्वामी जय जगदीश हरे
भक्त जनों के संकट, दास जनों के संकट क्षण में दूर करे।
ऊँ जय जगदीश हरे।

ऐसा सबके गले से नाद निकलता है। किसी को ठीक से गाना गाना नहीं आता। किसी का गला ठीक नहीं है। पर यह भजन केवल गले से नहीं, हृदय से निकलता है। हर एक का विश्वास है कि वह जगदीश उनके सारे संकट एक क्षण में हर लेता है। इसलिए हर एक अपने सुख-दुख को श्वास-उच्छ्वास के साथ हृदयपूर्वक 'जगदीश हरे' की पुकार करता है। किसी का पुत्र नहीं है, किसी का पति नहीं है, किसी को पति ने छोड़ दिया है, किसी को व्यापार में नुक़सान हुआ है, किसी का सगा बिस्तर से चिपका है, खड़ा नहीं हो पाता...किसी को संसार से विरक्ति है। हर एक के जीवन में संकट है, जिनके कारण जीवन दूभर हो गया है। पर उसे पता है कि जगदीश उन्हें संकटों से मुक्त करेगा, क्षण-मात्र में दूर करेगा। वह गंगा में जगदीश को देखता है और उसे अपनी सारी व्यथा बताता है। उससे धीरज मिलेगा। इसलिए भक्ति से उसका भजन गाता है, उसकी स्तुति करता है। इस दृश्य को

देखकर ऐसा लगता है जैसे बच्चे आकर माँ के सामने जो कुछ भी हुआ उसका बयान कर रहे हैं। हमारी नस-नस में यदि एक बूँद भी हिंदू रक्त बह रहा है तो इस दृश्य को देखकर हमें पाँच हज़ार सालों की पुरानी परंपरा की याद आएगी ही और हमारा हृदय भक्ति से सराबोर होगा ही।

मुझे पता था कि अन्य तीर्थ क्षेत्रों की तरह हरिद्वार में भी धोखाधड़ी होती है। अधिक धोखाधड़ी तो हिंदू धर्म का ठेका लेकर बैठा पुजारी ही करेगा, पंडा-ब्राह्मण ही करेगा। भक्ति से हम यहाँ आते हैं। ''ऐसे टूरिस्ट के जैसा घूमेंगे? कुछ धार्मिक विधि करेंगे...''—ऐसा हमें लगने लगता है। और हम श्राद्ध अथवा पूजा-पाठ या ऐसा कुछ और करने निकलते हैं, और उसी समय इन धोखेबाज़ों के चंगुल में फँस जाते हैं। अधिकतर पंडे अज्ञानी होते हैं, कुछ हृदयहीन भी होते हैं। वे अच्छी तरह हमें लूटते हैं। हम कहाँ आकर इनके हाथों में फँस गए, ऐसा हमें लगता है। हम अंदर ही अंदर जलने लगते हैं और बड़बड़ाने लगते हैं।

''ऐसे लोगों के हाथ में हिंदू धर्म रहेगा, तो वह जितना जल्दी हो सके उतना जल्दी नष्ट हो जाए, यही ठीक है।''—ऐसा मुझे कितनी ही बार लगा। कई बार मुझे—''यही हिंदू धर्म है तो सभी हिंदुओं को अपना धर्म बदलकर मुसलमान या क्रिश्चियन बनना चाहिए।'' इतना ग़ुस्सा आता था।

पर उस दिन हरिद्वार में संध्या की आरती देखने के बाद हिंदू धर्म के प्रति मेरी दृष्टि बदली। सपने में भी न आने वाली सोच उस दिन अचानक आने लगी। मैं पागलों के समान ख़ुद को ही कहने लगा—''इस्त्री किए गए कपड़े ही क्यों पहनें? मैं कल से सादी धोती पहनूँगा। ऊपर शर्ट-कोट क्यों चाहिए? मैं कल से सादा टॉवेल ही ओढ़ूँगा। जूते क्यों चाहिए? मैं कल से नंगे चलूँगा।'' इस तरह वस्तुओं को त्यागने की बातें सोचने लगा। यहाँ की हवा ही ऐसी है। यहाँ किसी को किसी का परिचय नहीं, पर आरती के समय अपरिचित भी एक-दूसरे से परिचित हो जाते हैं। बिहारी, पंजाबी, आसामी, मलयाली, गुजराती, बंगाली कोई भेदभाव हमारे अंदर नहीं। सब एक ही परिवार, घर के लोगों की तरह साथ चलने लगते हैं। हमारे बीच के सारे परदे हट जाते हैं। पता नहीं क्यों, मुझे हर एक का सुख-दुःख मेरा अपना सुख-दुःख लगता है। मैं भी घड़ी के टींग-टांग टींग-टांग ताल पर डोलने लगा। मेरे हृदय के भीतर से एक आर्त्तनाद फूट पड़ा और अन्य लोगों के सुर के साथ सुर मिलाकर कहने लगा—''दीनबंधु, दुःख हर्त्ता, ठाकुर तुम मेरे। अपने हाथ उठाओ, द्वार परो तेरे। जय जगदीश हरे...'' मैंने गंगा को देखा, वह भी हमारे साथ गा रही थी। अचानक नज़र आकाश की ओर गई। लगा—तारे चकित होकर इस दृश्य को देख रहे हैं और हमारे सुर में अपना सुर मिलाकर गा रहे हैं।

मैं हरिद्वार की तीन चीज़ों पर मोहित हो गया—एक वहाँ की हवा, दूसरा वहाँ का पानी, तीसरा संध्या समय की आरती का वह दृश्य।

कहते हैं हरिद्वार की एक चौथी चीज़ भी है जो मन मोह लेती है—ब्रह्म मुहूर्त में हरि की पैड़ी पर जाकर बैठना। कुछ अलग ही प्रकार के भक्त हैं जो वहाँ आकर ध्यान लगाकर बैठे दिखाई देंगे। उनसे मौन भेंट के बग़ैर हम क़दम कैसे बढ़ाएँ?

''ऐसे तुम बीच रास्ते में अटक गए तो हम हिमालय कब पहुँचेंगे।...तुम जैसा कह रहे हो वैसे भक्त हमें हिमालय में भी दिखाई देंगे...एक दिन से अधिक यहाँ हम नहीं रह सकते।'' नरेश मंत्री ने कहा। मैं चुप रहा और मन-ही-मन कहा—''तुम जो कह रहे हो, सच है।'' मैंने संकल्प लिया, इसके बाद जितनी बार भी दिल्ली आऊँगा, उतनी बार हरिद्वार भी आऊँगा। और हर बार यहाँ की हवा, पानी से शरीर तथा वातावरण से मन को निर्मल कर ही लौटकर गाँव ज़ाऊँगा। ब्राह्मी मुहूर्त में आने वाले भक्तों से तब अवश्य मिलूँगा।

हम हरिद्वार में एक दिन रुककर ऋषिकेश जाने के लिए निकले। हरिद्वार से ऋषिकेश 13-14 मीलों की दूरी पर है। पणजी से अगशी जाकर आने वाली टैक्सियों जैसी प्रवासियों को ले जानेवाली टैक्सियाँ वहाँ हैं।

हरिद्वार की उत्तर दिशा में शालवृक्षों के एक सुंदर जंगल से एक टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता निकलता है जो हमें आधे-पौने घंटे में ऋषिकेश पहुँचाता है। शालवृक्षों की शोभा को मैंने पहली बार यहीं। देखा सोचा, ये शालवृक्ष इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते सदियों बाद आसमान को छू लेंगे। उनकी पत्तियों का रंग हरे-पीले के बीच का था। जब भी सूर्य की किरणें उन पत्तों पर गिरतीं तो उनके तेज को देखकर लगता जैसे राजा के मुख का तेज हो। ऐसे सौ-सौ वृक्षों की क़तारें यहीं देखने को मिलती हैं।

एक समय ऐसा भी था कि यहाँ रास्ता ही नहीं था। पूरा प्रदेश जंगलों से भरा था। शेरों और बाघों के अलावा यहाँ कोई नहीं रहता था। सबसे पहले किसी ने यहाँ रास्ता ढूँढ़ निकाला तो वे थे कंद-मूल-फल खाकर जीने वाले संत-साधु। उन्हें तप करने के लिए ऐसे स्थान की आवश्यकता थी जहाँ लोगों का कोलाहल न हो। उन्हें ऋषिकेश पसंद आ गया। यहाँ छोटी कुटिया बनाकर वे रहने लगे। इसलिए इस स्थान का महत्व बढ़ गया। उनके बाद कुछ लौकिक साधु आए, उनके साथ कुछ शिष्य भी इकट्ठे हुए। शिष्यों की संख्या बढ़ गई, तो धर्मशालाओं का निर्माण

होने लगा। लोगों का आना-जाना बढ़ गया तो बाज़ार भी आ गया। उसके बाद अंग्रेज़ों ने रेलगाड़ी की व्यवस्था की। स्वतंत्रता के बाद कुछ कारख़ाने आ गए। इस तरह अब ऋषिकेश धीरे-धीरे शहर बन रहा है।

इतना होने पर भी यहाँ 'कलियुग' का प्रवेश नहीं हुआ है। ऋषिकेश के वातावरण में आज भी पुराना वैभव बहुत कुछ बचा है। वेदांत के अध्ययन करने वालों के लिए जितनी सुविधा यहाँ है उतनी शायद काशी के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। गंगा किनारे कितनी ही कुटियाँ नज़र आती हैं, जिनमें कितने बड़े-बड़े साधु रहते होंगे, कह नहीं सकते।

श्रीरामकृष्ण परमहंस के निर्वाण के बाद स्वामी विवेकानंद उत्तर भारत की यात्रा पर गए थे। रास्ते में एक दिन वे राजीपुर नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ उन्हें पवहारीबाबा नामक एक साधु की ख़बर मिली। एक गुफा में बैठकर वे तपस्या करते हैं। कुछ खाते नहीं, केवल हवा खाकर ही जीवित हैं (पवन-आहारी होने के कारण पव्हारीबाबा) ऐसी कितनी ही कहानियों को लोगों के मुँह से सुना था। इसलिए विवेकानंद उनसे मिलने गए। उन्होंने एक जगह पर कहा भी है—''रामकृष्ण परमहंस के बाद यदि मैं किसी से प्रभावित हुआ हूँ तो वो हैं पवहारीबाबा।''

एक दिन इस पवहारीबाबा के गुफा में एक चोर आया। उसने वहाँ जो भी चीज़ें मिलीं उन्हें इकट्ठाकर एक गठरी में बाँध लिया। गठरी को कंधे पर लादकर निकलने वाला ही था, इतने में उसकी नज़र पवहारीबाबा पर पड़ी।

चोर थर-थर काँपने लगा। एक क्षण की देरी न करते हुए अपनी बँधी गठरी को वहीं फेंककर भाग गया।

पवहारीबाबा ने भी देर नहीं की, वे चोर की गठरी कंधे पर लादकर उसके पीछे भागने लगे। दो फर्लांग की दूरी पर उन्होंने चोर को पकड़ा। आगे क्या? चोर के सामने गठरी रखकर उन्होंने उसके पैर छुए और भरे कंठ से बोले—''भैया मुझसे ग़लती हो गई। मुझे तुम्हारी कमाई के सामने नहीं आना चाहिए था .....अब एक उपकार करो, कृपा करके इस गठरी को ले जाओ, ये तुम्हारी ही है।''

कुछ समय के पश्चात् विवेकानंद घूमते-घूमते ऋषिकेश पहुँचे। गंगा के किनारे एक साधु से उनकी मुलाक़ात हुई। वह 'जीवनमुक्त' के जैसे लगते थे। विवेकानंद उनके साथ वहाँ कुछ दिन रहे। एक दिन बातों-ही-बातों में पवहारीबाबा की बात निकली। जैसे ही विवेकानंद के मुँह से पवहारीबाबा की बात निकली साधु के हृदय से मानो भक्ति का फ़व्वारा फूट निकला। उसने विवेकानंद से पूछा—''क्या आप पवहारीबाबा से मिले हैं?''

''हाँ।''

''उनके बारे में कितनी ही कहानियाँ प्रचलित हैं'', कहते हुए वह गुफा में चोर के घुसने की कहानी सुनाने लगे।

''मैंने सुनी है यह कथा'', विवेकानंद ने कहा।

''सुना है?'' साधु की आँखों से अश्रुओं की धारा निकली। भरे कंठ से उसने कहा—''वह चोर अब आपके सामने खड़ा है।''

मुझे पता है, कुछ भिखारी साधु बनते हैं, कुछ चोर साधु के भेष में घूमते हैं। ब्याज पर पैसे देनेवाले साहुकार साधुओं को भी देखा है। कभी-कभी लगता है, इन आलसी, ढोंगी, अप्रयोजक साधुओं को पकड़कर काम पर लगाना चाहिए। पर काम करके खाने वालों को ही यह समाज काम नहीं देता तो ऐसे साधु-संतों को कौन देगा? मैंने कुछ देशभक्त साधुओं को देखा है। तुकडे जी महाराज जैसे साधुओं के साथ कुछ दिन रहकर आया हूँ। पर विवेकानंद के जीवन में घटित इस घटना को पढ़ने के बाद साधु-संतों की ओर देखने की मेरी दृष्टि बदल गई है। मेरे ऋषिकेश पहुँचने से पहले ही मेरी दृष्टि में काफ़ी बदलाव आ गया था।

लोगों की नज़रों से देखें तो ऋषिकेश को साधु-संतों का ही स्थान कह सकते हैं। यहाँ सौ में साठ लोग साधु-संत ही मिलेंगे वो भी हर पंथ के। पारिवारिक नाम भले ही अलग-अलग हो, पर जैसे ही दादाजी के घर पहुँचने पर नाती-पोते एक ही घर के हो जाते हैं वैसे ही सभी पंथ के साधु-संत यहाँ पहुँचने पर एक जैसे केवल लगते ही नहीं एकत्र भी हो जाते हैं।

ऋषिकेश में गंगा किनारे जो छोटे-बड़े कुटीर दिखाई देते हैं उन्हें स्वयं साधुओं ने अपने हाथों से खड़ा किया है। कुटीर के बाहर उनकी पादुकाएँ और अंदर सुखाने के लिए डाली गई जाँघियाएँ हों तो हो गया, उस कुटिया में कोई पैर नहीं रख सकता। अगर समझो कुटिया में रहने वाले उस साधु को जमुनोत्री, गंगोत्री जाने की इच्छा हुई और वह चला गया तो वापसी में उसकी कुटिया उसकी नहीं रहेगी, क्योंकि उस कुटिया को ख़ाली देख कोई दूसरा उसमें रहने लगेगा। उसके वापस आने पर भी वह कुटिया में रह नहीं सकेगा। वह अपनी कुटिया में जाकर देखेगा और यदि वहाँ किसी ने जाँघिया सुखाया है तो वह अपने लिए दूसरे स्थान पर दूसरी कुटिया बनाकर रहेगा। ''मैंने इस कुटिया को बाँधा है, यहाँ रहने का अधिकार मेरा है।'' ऐसा कहने वाले हम और आप हैं, साधु कभी ऐसा नहीं कहेंगे, क्योंकि उनका संसार ही अलग है, उनके नियम ही अलग हैं। ऋषिकेश अब नगर बनने लगा है। फिर भी इन साधु-संतों का संसार यहाँ से नहीं हटा है, न ही यह परंपरा भंग हुई है।

हमने काली कमली वालों की नई धर्मशाला में एक कमरा लिया, सामान रखा और तुरंत लक्ष्मण झूला देखने निकल पड़े।

उत्तर पूर्व दिशा में तीन मील जाना था। स्टैंड में कई साइकिल-रिक्शा खड़े थे। 'मनुष्य-मनुष्य को खींचकर ले जाए, यह मनुष्यत्व में ठीक नहीं बैठता।' इसलिए हमने घोड़ागाड़ी में जाना चाहा और उस तरफ़ क़दम बढ़ाए। साइकिल-रिक्शावालों से बचकर निकले ही थे कि अचानक पता नहीं क्या हुआ, गोदु के दिमाग़ में एक नया ही प्रश्न उभरा। वैसे तो हम हमेशा घोड़ागाड़ी में ही घूमते रहे, पर यहाँ उसे लगने लगा—''जिसे अपने दु:ख को ज़ाहिर करने तक नहीं आता, उस घोड़ागाड़ी में बैठना क्या मनुष्यता है?'' उत्तर देना आसान नहीं था। निर्णय लेना उससे भी कठिन था। हम पैदल ही लक्ष्मण झूला देखने गए।

कहते हैं, रावण-वध के बाद घर लौटे लक्ष्मण प्रायश्चित्त करने यहाँ आकर रुके थे। झूला देखने गए।

पर लक्ष्मण झूले की गरिमा को बताने के लिए इस कथा की आवश्यकता नहीं है। यहाँ की बड़ी-बड़ी ऊँची पर्वत-मालाएँ, पर्वतों के कंधे पर लदे महान वृक्षों की पंक्तियाँ, उन्हें चीरकर रास्ता बनाकर बहने वाली गंगा की कलकल आवाज़ को सुनते ही लगता है, यह स्थान ध्यान और तप के लिए ही बना हुआ है।

प्राचीनकाल में लोग इसी रास्ते से हिमालय की यात्रा करते थे। कहते हैं, पांडवों को जब लगा कि उनका कार्य पूरा हुआ तो वे इसी रास्ते से स्वर्ग के लिए निकले थे। कहा जाता है, उस समय यहाँ रस्सी का पुल था। नदी को पारकर उस किनारे जाना आसान नहीं था। नदी के बहाव को रोकना किसी के बस में नहीं था, इसलिए नदी के दोनों किनारों पर स्थित दो बड़े वृक्ष से रस्सी को बाँधकर, लकड़ी के तख़्तों को लगाकर उस समय के इंजिनियरों ने एक पुल तैयार किया था। सुपारी को पेड़ से निकालते समय उसे निकालने वाला जिस तरह एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर छलाँग लगाता है, उसी प्रकार दोनों वृक्षों से बाँधी गई रस्सियों के बीच लगे तख़्तों पर छलाँग लगाते हुए दोनों ओर की रस्सियों को पकड़कर, उस झुलेनुमा पुल से लोग धीरे से नदी को पार करते थे। नीचे देखने पर लगता मानो गंगा एकदम पाताल में बह रही हो। फिर भी उसकी तेज़ धारा देख पुल पर जानेवाला चक्कर खा जाता। बहुत सारे यात्री कभी-कभी एक तख़्ते से दूसरे तख़्ते पर छलाँग लगाते समय गंगा की तेज़ धारा देख चक्कर खाकर गिर जाते तो सीधे स्वर्ग में पहुँच जाते।

हमें लगता है कि यात्रियों को ऐसी ही कितनी ही दिव्यताओं से पार होना पड़ता। इसी कारण यात्रा पर जाने वाला अपने सगे-संबंधियों से मिलकर यात्रा की ख़बर देता और उनसे विदा लेता। सगे-संबंधियों को लगता कि वह वापस नहीं आएगा और वे ऐसे फूट-फूटकर रोते जैसे यही उनकी आख़िरी मुलाक़ात हो।

उन दिनों की भयानकता की तुलना में आज हिमालय की यात्रा कितनी सरल हो गई है! आज लक्ष्मण झूला को जानेवाले यात्रियों को कोई साहस करने की आवश्यकता नहीं। अब यहाँ रस्सी का झूला नहीं है। लोहे का झूला है। उसे नीचे लोहे के खंभों का आधार नहीं है। पाताल से स्वर्ग तक खंभों को बाँधना या खड़ा करना आसान नहीं। खंभों के बदले लोहे की रस्सियाँ आ गई हैं। लोहे की रस्सियों के पुल पर खड़े रहने पर पुल थोड़ा हिलता है। बीच-बीच में गंगा की तेज़ धारा को देख चक्कर आते हैं, पर चक्कर खाकर गिरने की नौबत आज नहीं है। आज यहाँ आना कठिन नहीं। इसलिए आज यात्रा में पुण्य बचा नहीं, ऐसा कह सकते हैं। फिर भी लग रहा है, आज प्रकृति के गोद में आकर लक्ष्मण झूले को देख नहीं पाता तो जीवन में एक सुंदर स्थान को देखने से वंचित रह जाता। लगता है, यहाँ पेड़-पौधों को भी ऋषियों की छाया लगी है।

पुल पारकर जैसे ही उस पार जाते हैं 'स्वर्गाश्रम' मिलता है। इस स्थान पर आज भी तपोवन की छटा दिखाई देती है। कहते हैं, यहाँ उच्च तपस्वी रहते हैं। स्वर्गाश्रम से एक मील दूर गए तो रास्ते के दोनों ओर बैठे भिखारी दिखाई देंगे। उनमें कुछ के नाक नहीं तो कुछ के कान नहीं हैं, कुछ लोगों की उँगलियाँ सड़ गई हैं। इस विद्रूपता को देखने पर प्रश्न उठता है कि वे तपस्वी—जो यहाँ रहते हैं—क्या करते हैं? उन पर क्रोध भी आता है। भिखारियों को देख मन विचलित होता है। इनमें अधिक महिलाएँ हैं। ख़ासकर अधिक बंगाली स्त्रियाँ। वे भीख क्यों माँग रही हैं, इस वृत्ति को उन्होंने क्यों अपनाया? पता नहीं ऐसे कितने ही अनचाहे प्रश्न मेरे मन में उठने लगे। इस 'आर्य' देश में किसी महिला पर कौन-सी विपदा आएगी, कह नहीं सकते। उसके घर-बार से बाहर रहने का कोई कारण ही नहीं है। मुझे एक पर दया आई और मैंने उसे पैसे दिए। उसके मुँह से आशीर्वाद के दो शब्द निकले, इतने में उसके पास बैठे कोढ़ग्रस्त भिक्षुक चिल्ला उठा—"मैंने तेरी कौन-सी गठरी चुराई है?...मुझे क्यों भीख नहीं देते?" ऐसा पूछते हुए ख़ुद कहने लगा, "सुबह से देख रहा हूँ, कोई मुझे कुछ नहीं देता ...क्यों? ....मेरा नसीब ऐसा

क्यों?....'' उसने अपना बर्तन ज़मीन पर पटककर तोड़ दिया और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। मुझसे उसने फिर पूछा—''मेरा नसीब खोटा क्यों?...बताओ, मुझे तुमने पैसे क्यों नहीं दिए?...'' मैं उसे पैसे देकर जल्दी-जल्दी चलने लगा। मुझे गोर्की की एक कहानी याद आई। उस कहानी में एक भिखारी रहता है। वह एक घर के दरवाज़े के सामने खड़ा होकर भिक्षा माँगता है। बाल्कनी में एक महिला अपने बच्चे को दूध पिला रही थी। भिखारी उसे देखकर ''माँ मुझे कुछ दे दो'' कहता है। ''आगे चले जाओ...'' वह कहती है। भिखारी क्रोध में आकर चिल्लाता है—''मुझे जाने के लिए कह रही हो, सुबह से मैं भूखा हूँ, तुम खा-पीकर मस्त हो गई हो। तुम्हारी छाती का दूध सूख जाए। तुम्हारा बच्चा तड़पकर मर जाए।'' महिला डर जाती है और दौड़ते हुए अंदर जाकर रोटी लाकर उसके हाथ में रखती है।

मुझे लगा, मेरा नसीब अच्छा है। इसने मुझे गालियाँ नहीं दीं। क्या पता, दी भी होंगी। मैं वहाँ रुका ही नहीं, जल्दी चलने लगा। सीधा 'परमार्थ आश्रम' में आ गया। मुझे याद है, वहाँ मैंने *भगवद्गीता* ख़रीदी थी। हमेशा पुस्तकों में डूबा मैं हिमालय यात्रा में दूसरी किताबों को न लाकर केवल *भगवद्गीता* पढ़ता रहा। मैंने तो यात्रा में गीता के अलावा कुछ न पढ़ने का निर्णय लिया था। गीता ने अनेक लोगों को बहुत कुछ दिया है, मुझे भी दिया है। अंजुली भर-भर दिया, पर यह आगे की बात है, अभी कहेंगे तो कैसे!

हरिद्वार की हवा हिंदू है, पर ऋषिकेश की हवा वेदांत से भरी हुई है। सूर्यास्त से पहले ही हम धर्मशाला में आए। तौलिया तथा लोटा लेकर गंगा स्नान किया। स्नान के बाद जी कुछ हल्का हुआ। अचानक मुझमें प्रार्थना की भूख जागी। पाँच-छह सालों से हर दिन नियम से प्रार्थना करता था। अब मेरे लिए हर दिन के खान-पान, स्नान तथा निद्रा जैसी ही प्रार्थना भी अनिवार्य हो गई थी । मैंने देवेंद्र से कहा...''शाम का समय हो गया है, अत: हम अब गंगा के किनारे ही प्रार्थना करेंगे।'' उसने मधुर स्वर में प्रार्थना शुरू की। प्रार्थना के स्वर हवा में लहराते ही मुझमें एक नया अनुभव जगा, गहराई में कहीं लगने लगा...''हमें ठीक से माँगना नहीं आता, किसके पास माँगें, क्या माँगें।'' बहुत सारे लोग माँगते हैं : ''मुझे धन चाहिए, अधिकार चाहिए, वो चाहिए, ये चाहिए।'' भगवान उन्हें सब कुछ देता है या नहीं, मुझे पता नहीं।

पर सच तो यह है—भगवान के सब कुछ देने पर भी वे संतुष्ट नहीं होंगे और जो अधिक माँगते हैं उनका माँगना कभी ख़त्म नहीं होगा...

इसको माँगना कह सकते हैं न?

दूसरे कुछ लोग होते हैं, एकदम इनसे उल्टे। जो इस संसार से उकता गए हैं, उन्हें 'इस संसार के झंझटों से, कष्टों से' कब मुक्त होंगे ऐसा लगते रहता है। वे माँगते हैं—''भगवान मुझे झंझटों से निकालो।'' एक माँग आसक्त पर निष्प्रयोजक; दूसरी विरक्त और दरिद्र—दोनों ही मिथ्या।

तो फिर ठीक से माँगना कैसे? मुझे ऐसा लगा जैसे काका साहब की आवाज़ सुनाई दी।

संस्कृत में इंद्रियों के लिए एक पद है 'करण'। प्रकृति ने मनुष्य को कर्म करने के लिए कुछ इंद्रियाँ दी हैं, कुछ ज्ञान पाने के लिए। इन सारी इंद्रियों पर—'करण' पर अधिकार चलने वाला एक और 'करण' है। उसका नाम है 'अत:करण' अथवा अंतस्करण। इस अंतस्करण के अंत:करण में एक और बैठा है। वह है 'अंतरता' अथवा 'अंतर्यामी'। जीवन 'उससे' माँगे क्या? उसके पास जो है वह। उसके पास एक ही है, वह है 'प्रेम'। कैसा? तुम्हारे अंतस्करण को धोकर स्वच्छ करने वाला। तुम्हें घिसकर चमकाने वाला, तुम्हारे जीवन को सुंदर करने वाला, को धोकर स्वच्छ करने वाला। माँगना है तो इस प्रेम को माँगो, तुम्हें वह देगा।

जिन्हें यह 'प्रेम' मिला है, उनका जीवन सोने जैसा हुआ है। करण का ताल-छंद 'उसी का' हुआ है। मुझे एक और बात सुनने को मिली। पानी के भाप को खुला छोड़ दो। वह कुछ नहीं कर पाएगा। वह हवा में घुलते-घुलते मेघों की तरफ़ जाएगा। उसी को बायलर में बाँध दो और देखो कितना भयंकर काम करता है। हवा भी ऐसी ही है। खुली हवा को गाना नहीं आता। उसे एक बाँस में बाँध दो और थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ो, फिर देखो कितना सुंदर संगीत निकलता है! 'उसकी' स्थिति भी वही है, वह निराकार है। उसकी काया नहीं है, पर वह अपने-आपको तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्त करता है। उसकी इच्छा और अपने कर्मों को मिलाकर देखो। उसके नियमानुसार अपने कर्म को होने दो। अपने कर्मों के छंद और ताल में तू देखेगा : तुम्हारे अंदर जो सुंदर और मीठापन दिखता है, सुगंधित और सरल दिखाई देता है, उसमें उसी के हाथ का स्पर्श है, उसमें 'वही' आँखों को दिखता है...।

मुझे *गीतांजली* की एक कविता याद आई। अपने पूरे अंगों में उसका हाथ लगा है, इसे जब कवि अनुभव करता है तो वह निश्चित करता है—''मैं अब अपने

सब अंगों को शुद्ध रखूँगा।'' कवि को लगता है कि उसके मन में भी 'वह' आकर बैठ गया है। कवि निश्चय करता है—मैं अपने विचारों में झूठ को शामिल नहीं करूँगा। हृदय में आकर 'वह' बैठे, इसलिए कवि अपने हृदय के सारे कल्मष बाहर डालकर, हृदय के आसन को निर्मल करने तथा कर्मों से 'उसके' कृत्यों को दिखाने की शपथ लेता है।...

यह सब कवि अपने जीवन के जीवन से कहता है। इसे ही माँगना कहते हैं।

मैं हर दिन की प्रार्थना छोड़ 'जीवन के जीवन' से इसे ही माँगने लगा। उस दिन की प्रार्थना मेरे अंत:करण के अंतस् करण को छू गई। हिमालय पर अभी पहुँचा भी नहीं था। नज़दीक की गया था। उतना ही काफ़ी था, हिमालय मुझ पर प्रभाव डाल रहा था।

यहाँ पहुँचने से पहले हिमालय जाना मतलब कहाँ जाना, यह हमें पता नहीं था। अब हम यहाँ उसकी ख़बर लेने लगे।

ऋषिकेश में 'पशुलोक' नामक एक संस्था है। गाँधीजी की एक अंग्रेज़ शिष्या मीराबेन ने इसकी स्थापना की थी। परनेरकर नामक महिला इसे चलाती थी। परनेरकर से हमारी मुलाक़ात और परिचय वर्धा में हुई थी। हिमालय की अधिक जानकारी उनसे लेने, हम उन्हें ढूँढ़ते हुए 'पशुलोक' गए। वहाँ जाकर पता चला कि पूरा हिमालय अर्थात् कुछ दो हज़ार मील लंबा, दो सौ मील चौड़ा प्रदेश बड़ा होने के कारण एक बार में देखा नहीं जा सकता था।

मतलब ?

इस बार आप लोग केवल उत्तराखंड को देखकर आइए...हमें उत्तर मिला। उसके बाद भी जब हमने और पूछताछ की तो पता चला हिंदू मन जब-जब हिमालय के बारे में सोचेगा तब-तब उसके सामने उत्तराखंड ही आएगा। हिंदू मन ने उत्तराखंड को ही हिमालय माना है। उत्तराखंड के पर्वतों की पूजा हिंदू मन जितना करता है उतना अन्य खंड के पर्वतों की नहीं करता। हिम की दृष्टि से, ऊँचाई में बड़ा ऐसे धवलगिरि की पूजा नहीं करते, कंचनजंघा, गौरीशिखर की भी पूजा नहीं करते, क्यों ? जवाब एक ही है: उत्तराखंड है गंगा का मायका और गंगा इस देश की संस्कृति की जननी। पिछले दस हज़ार वर्षों के इतिहास में हमारे देश में जितने संत-महात्मा हुए, वे सब गंगा के मायके आकर गए हैं। यहाँ की शिलाओं

पर बैठकर उन्होंने ध्यान किया है, तपस्या की है। इस देश की संस्कृति को रूप उत्तराखंड ने ही दिया है।

कहते हैं, जन्म के समय जो संस्कार मानव में होते हैं वही संस्कार अंत तक रहते हैं, शायद यह अलग-अलग संस्कृतियों में भी होता है।

हमारी संस्कृति में पहले 'मैं कौन?' इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने की शुरुआत हुई और उसे 'आत्मा' का परिचय हुआ। और जब उसे लगा कि यही आत्मा पूरे संसार में भर गई है तो वह गाने लगी, ''सुनो संस्कार के लोगो...सुनो, अमृत संतानो, 'वह' कौन है, यह मैं जानता हूँ। मैंने उसे देखा है...सूर्य के समान तेजस्वी । वह अंधकार के पीछे रहता है...इतना ही नहीं, फिर वह कहने लगी, वह कौन है जान लीजिए...''

उसी दिन हमारी संस्कृति ने एक रूप धारण किया। उसका 'मिशन' निश्चित हुआ। अब उस पुरुषार्थ की प्रार्थना को कितना भी बरतो, पर वह घूम-फिरकर अपने मूल प्रेरणा की ओर ही आती है।

जिस स्थान ने हमारी संस्कृति को एकरूपता दी, उसी स्थान को इस बार हम देखेंगे, यह तय हुआ।

उसी समय एक समस्या हमारे सामने खड़ी हुई। ऋषिकेश में रामनगर नामक एक स्थान है। वहाँ हमारे परिचय के दो संन्यासी रहते थे। उन्होंने कहा कि उत्तराखंड के दो भाग हैं। एक ओर जमुनोत्री तथा गंगोत्री ये दो स्थान आएँगे तो दूसरी ओर केदारनाथ और बद्रीनाथ ये दो स्थान आएँगे। इसमें जमुनोत्री तथा गंगोत्री की यात्रा कष्टप्रद है। उनका कहना था कि हम इस इस ओर न जाएँ। कारण यहाँ रास्ते ठीक नहीं हैं। पेड़-पौधों के बीच रास्ता ढूँढ़ते हुए जाना पड़ेगा। कहीं-कहीं तो पर्वत के किनारे के भयानक रास्ते से गुज़रना पड़ता है। कभी-कभी यात्री उस भयानक दृश्य को देखकर, घबराहट में पाँव फिसलकर 5-6 हज़ार फ़ीट की खाई में गिर भी सकता है। कुछ जगहों पर नदियाँ चौड़ाई में भी मिलती हैं। उसे पार करते समय थोड़ी-सी भी चूक हो जाए तो हड्डी पसलियाँ भी राख होकर एक क्षण में नहीं सी हो जाएँगी। कुछ जगहों पर तो पाँव से चल ही नहीं सकते, हाथों को ही पाँव बनाकर चलना पड़ेगा।

उसके अलावा उन्होंने यह भी कहा कि सर्दी के मौसम में जो बर्फ़ गिरी है, वह भी पिघली नहीं होगी।

शहर के लोग इस प्रकार की कष्टप्रद यात्रा कैसे कर सकते हैं! यह संदेह भी उन्होंने जताया। गोदुबाई की तरफ़ देखते हुए उन्होंने पूछा :

''ये भी आपके साथ आएगी?''

''...ये...'' हमने 'हाँ' कहा।

''तो आपको 'कंडी' करनी पड़ेगी...''

'कंडी' मतलब क्या? बाँस जैसी ही सूखी घास की खोखली कुर्ची। उसके पेट में सामान डालना है और उस पर मानव को बैठना है। बाद में नेपाली उसे पीठ पर लादकर यात्रा-स्थल तक ले जाते हैं।

हमें क्या करना चाहिए, पता नहीं चल रहा था। यात्रा स्थगित कर लौट चलें? मन में लगा—इस बार केवल केदारनाथ, बद्रीनाथ की ही यात्रा करेंगे। पर जब यह बात मस्तिष्क में आई तो दिल हिल गया। अंत में गोदु ने ही निर्णय लिया—''इस उम्र में अगर हम जमुनोत्री और गंगोत्री की यात्रा नहीं करेंगे तो आगे कभी भी नहीं कर पाएँगे। अत: कितने ही कष्ट क्यों न आएँ, हम इस यात्रा को पूरा करके छोड़ेंगे।''

''कंडी का क्या?.....उसे करना है या नहीं?'' नरेश ने पूछा।

''वह एक अप्रतिष्ठा नहीं चाहिए''—उत्तर मिला।

एक पल की भी देरी न करते हुए हम तैयारी में जुट गए।

हिमालय में रहनेवाले स्वामी दयानंद हमें दिल्ली में मिले थे। उन्हें जब हमने हिमालय की यात्रा के संकल्प के बारे में बताया था तो उन्होंने कुछ अमूल्य सूचनाएँ दी थीं। उन्हेंने कहा—हिमालय की यात्रा मतलब बर्फ़ का घर। चलते-चलते शरीर कितना ही गर्म क्यों न हुआ हो, अंत में ठंड ज़रूर लगेगी। रात के समय तो ठंड अधिक होती है, इसलिए शॉल, स्वेटर, मफ़लर आदि लेकर ही जाना।

आप पैरों में क्या पहनते हैं? चमड़े का जूता? ...हम जो चमड़े का जूता पहनते हैं, सामान्य रूप से वह तीन सौ मील चलने के लिए ठीक है। हिमालय में कम से कम छह सौ मील चलना पड़ता है। इसलिए जब आप जाएँगे तो और एक जोड़ी जूता ले जाना मत भूलिए, नहीं तो राह में आपको बहुत मुश्किल होगी।

''जूतों में पैर खुले रहते हैं। आपको पता नहीं, हिमालय में जोंकें बहुत होती हैं। वे यदि पैरों में चिपक जाएँ तो पेटभर आपके ख़ून को चूसे बग़ैर छोड़ेंगी नहीं और आपको पता भी नहीं चलेगा कि वे कब आपके पैर से चिपक गईं। इसके अलावा हिमालय में एक प्रकार की छोटी मक्खियाँ थोड़ा ख़ून निकालती हैं, जैसे ही ख़ून सूखेगा वहाँ खुजली शुरू होगी, खुजाने पर वहाँ एक फोड़ा निकलेगा, वह

जल्दी सूखता नहीं। इस कष्ट से बचने के लिए आप जूतों के बदले कैनवास शू लें तो अच्छा रहेगा। उन्हें भी दो जोड़ी ले जाने पड़ेंगे।''

स्वामी ने आगे कहा—''हिमालय की पूरी यात्रा पैदल ही करनी पड़ेगी और हिमालय मतलब पर्वतों का सागर है। वहाँ एक साथ चढ़ना पड़ता है, उतरना पड़ता है। इस प्रकार चढ़ने-उतरने से पैरों में खिंचाव, दर्द शुरू होता है। इसे रोकने के लिए सैनिकों जैसे पैरों में पट्टियाँ बाँधनी होंगी। किसी भी मिलिटरी स्टोर में तंबू भी मिलते हैं। उसमें आप बिछौने को लपेट लेंगे तो रास्ते में बारिश के आने पर बिछौने के भीगने का डर नहीं रहता। हिमालय में गर्मियों के दिनों में भी कभी-कभी बरसात होती है।''

फिर उन्होंने आगे कहा, ''हिमालय में रात को बर्फ़ गिरती है। बर्फ़ के कारण रास्तों पर फिसलन होती है। फिसलन-भरे रास्तों पर पैदल चलना ठीक नहीं है। हाथ में एक लंबी लकड़ी का होना आवश्यक है। लोहे की नोकवाली लकड़ी रख लीजिए, बर्फ़ के रास्ते पर चुभाने के लिए उपयुक्त होगी।''

स्वामीजी ने बहुत सारी छोटी-छोटी सूचनाएँ दीं, ''हाथों को खुला रखिए। जहाँ मीलों दूर चलना हो वहाँ हाथों में एक छोटा-सा लोटा भी बहुत भारी लगता है। इसलिए हाथों में कुछ नहीं होना चाहिए। उसके बदले गले में एक थैली डाल लीजिए, जिसमें छोटी-छोटी चीज़ें डाल सकें। बाक़ी सामान को कुली के हाथ में दे दीजिए, ऋषिकेश में भी नेपाली कुली मिलते हैं।''

कैनवास के बूट, पैरों में लपेटने वाली पट्टियाँ, तंबू आदि को हमने दिल्ली में ही ख़रीद लिया था। ऋषिकेश में लोहे की नोकवाली छड़ी ख़रीदी। खाना बनाने के लिए कुछ एल्यूमिनियम के बर्तन ख़रीदे थे।

कल ही जाने का निश्चय किया।

हमें पता चला था ऋषिकेश से लेकर धरासू तक बस मिलेगी। हमने पहले ही बस की टिकट ले ली थी। बस सुबह सात बजे निकलने वाली थी। पर मन में हलचल मची थी। रात के तीन बजे मेरी आँख खुली। मैं उठा और मैंने सबको जगाया। बिछौने को तह किया। गोदु पूछने लगी—''इतनी जल्दी तीन बज गए? कैसे मुमकिन है! अभी-अभी तो सोए थे न?'' मैंने घड़ी देखी। देखा तो केवल सवा बारह बजे थे। फिर बिछौने को खोला। पर नींद कैसे आए। हिमालय यात्रा की ख़ुशी में नींद ही नहीं आई। सुबह के पाँच बजे तक 'हिमालय कैसे दिखेगा' सोचते

हुए करवट बदलते रहा। मस्तिष्क में तरह-तरह के चित्र छा गए। छह बजे बस अड्डे पर आ गए।

बस निकली। शिवलिंग पर्वत के ऊपर छोटे-से रास्ते से एक के बाद एक आने वाले भयानक मोड़ को पार करते हुए नरेंद्र नगर की दिशा में बस दौड़ने लगी। एक-एक मोड़ पर प्रकृति का एक-एक रूप दिखाई देने लगा। पर रास्ता पूरा ही ख़राब था। उतना ख़राब कि हमें लगता, ''आह! बस गिर जाएगी...'' ज़रा-सी ग़लती की कि बस खाई में गिरेगी, तो क्या होगा बता नहीं सकते। प्राण ऊपर-नीचे होने लगे। कुछ लोगों को चक्कर भी आने लगे। आँख मूँदकर वे 'हरे राम ... हरे राम' जपने लगे।

मुझे लगा, हम बस से क्यों निकले! क्यों इतनी जल्दबाज़ी! पैदल भी जा सकते थे। धरासू पहुँचने के लिए तीन-चार दिन लगते। दिनों की कमी तो नहीं थी। फिर, बस से जाने की बात कैसे सोची? ख़ैर, बस हिमालय तक पूरी जाएगी? नहीं, धरासू तक ही जाएगी। आगे की पूरी यात्रा पैदल ही करनी पड़ेगी। फिर इस यात्रा को पैदल ही कर लेते। मैं अपने ऊपर ही क्रोधित हुआ—''इतने अनाड़ी हम कैसे हुए! पैदल ही चलने वाली यात्रा ही अच्छी होती है। हम जानते हैं, पैदल चलने से यात्रा थोड़ी कठिन हो सकती है। पर आँखों को ठंडक देनेवाले दृश्य जो दिखेंगे! पुराने ज़माने में जब बस नहीं थी, तो पैदल चलनेवाले यात्रियों को कितने सारे छोटे-मोटे दृश्य नज़र आते थे! नए-नए लोग मिलते थे। वे नए मित्र बनाते थे, नए-नए रिश्ते बनते थे। इतना सब कुछ जानते हुए भी हम सब बस से कैसे निकले!''

कल ही किसी ने पूछा था—''पैदल जाएँगे, या बस से?'' तभी मुझे उसकी बात सुनकर ग़ुस्सा आया था कि 'हिमालय में भी बस का संचार होता है।' अब तो हिमालय में भी बस का संचार हो रहा है, अब सब कुछ ख़त्म होगा। अब भीड़ जमा होगी। उसके पीछे धोखाधड़ी, शोर-शराबा भी शुरू होगा। ''क्या सभ्यता के अंग वहाँ पहुँचे बिना रह सकते हैं?...हिमालय की विशिष्टता बचेगी?'' धरती के एक तरफ़ तो मनुष्य को प्रकृति के निर्जन निःशब्द वातावरण को सँजोए रखना है। हिमालय में बस ले जानेवाले दुष्टबुद्धि के होंगे।

फिर भी हमने उत्तर दिया कि हम बस से जाएँगे। मुझे लगता है, हिमालय को देखने के उत्साह में हमें जल्दी वहाँ पहुँचने की उत्सुकता थी।

अब मुझे पश्चात्ताप हो रहा था। मैंने अपना क्रोध बस पर निकाला। ''ये एक बस है जो चुपचाप चल रही है। कुछ भी ठीक से देखने नहीं देती।'' शायद हमें पार्सल समझा होगा। पहले दिन ही हमारी यात्रा को नीरस बना दिया इस दरिद्र बस

ने। मुझे बस में बैठ यात्रियों पर भी ग़ुस्सा आया। मैंने उनके चेहरे देखे, सभी पचास वर्ष के ऊपरवाले थे। ये यहाँ क्यों ? हिमालय का महत्व है रास्ते के लिए, न कि मंदिरों के लिए। इस प्रकृति के रम्य पथ को निहारने में ही एक आनंद है। मंदिर कहाँ नहीं हैं ? इस पथ पर युवकों को चलना चाहिए था। वे कहाँ गए ? अथवा हमारे देश के युवक सारे बुड्ढे हो गए। बाहर सुंदर दृश्यों का जो सागर है उसे देखना छोड़, आँख मूँदकर भगवान का ध्यान कर रहे हैं। इतना ग़ुस्सा आ रहा है कि इनको तो एक-एक कर गिनकर बस से बाहर फेंक देना चाहिए।

''बेकार में इस बार यात्रा पर निकला। साथ में कौन-कौन आ रहे हैं, देखकर निकलना था।'' मन बड़बड़ाने लगा। बस के बजाय पैदल आता तो शायद इनका साथ छूटता था, ऐसा भी लगा।

नरेंद्र नगर तक के सारे दृश्य देखने लायक़ और सुंदर ही थे। पर मुझे ऐसा लग रहा था जैसे इन दृश्यों को मैंने पहले भी देखा है। मुझे ऐसा भी लगा कि ''इससे पहले मैं यहाँ आया था। यह सब मैंने पहले भी देखा है। मैं पहले भी यहाँ रहकर गया हूँ।'' मैंने ख़ुद से पूछा, मैं यहाँ कब आया था... ? पहले, बचपन में माता-पिता के साथ 'त्रिस्थल' की यात्रा की थी। तब ऋषिकेश भी आया था। शायद उस समय मैं आठ-नौ साल का होऊँगा। मुझे उस यात्रा की याद है। हरिद्वार से ऋषिकेश को हम खुले कार में गए थे। हमारी गाड़ी को रास्ते में आग भी लगी थी। अच्छा था कि सही समय आग लगने की बात पता चली थी। नहीं तो उसी दिन हम सब भगवान को प्यारे हो गए होते। माँ को हम हरिद्वार में छोड़कर गए थे। हरिद्वार से वापस आने पर जब माँ को आग लगने की ख़बर सुनाई थी, तब जो भाव उसके चेहरे पर थे उसे आज भी मैं भूल नहीं पाया हूँ। उस दिन को याद करता हूँ तो आज भी मेरा हृदय धड़कता है। आज भी वह यात्रा मेरे स्मृति-पटल से नहीं गई है। लेकिन वह यात्रा लक्ष्मण झूला से आगे नहीं हो पाई थी। ऐसे में इन दृश्यों को मैंने कहाँ देखा, कब देखा ? मन संशय से भर गया। मैंने मन-ही-मन कहा—''पिछले जन्म में यहाँ आकर गया होऊँगा ? मैं पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाला। कर्मसिद्धांत पर जो विश्वास करते हैं उन्हें पुनर्जन्म में विश्वास रखना ही होगा। हिंदू मानते हैं, जैन मानते हैं, बौद्ध लोग देवता, आत्मा आदि पर विश्वास नहीं रखते पर पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। इब्राहिम के पहले मैं था, ऐसा ईसाई भी कहते हैं। इस्लाम के बारे में मुझे पता नहीं, पर सूफ़ी पुनर्जन्म को मानते हैं। वह मानव-जाति का एक गहरा अनुभव है। वह एक deep conviction है। अगर ऐसा है तो मुझे पिछले जन्म की याद क्यों नहीं आ रही है ? इस संदेह का कोई

अर्थ नहीं। 'तुम्हें इस जन्म की यादें भी कहाँ याद आ रही हैं? बचपन की कई घटनाओं को तुम भूल गए हो। यही क्यों, उम्र ढलने लगे तो देखो कल का आज भूल जाओगे। सुबह की घटना शाम को भूल जाओगे....। पुनर्जन्म होता है या नहीं, इसे इन घटनाओं से सिद्ध नहीं कर सकते। अधिक हुआ तो 'वह है' कहना जितना कठिन है 'वह नहीं है' कहना और भी कठिन होता है।''

मैं पिछले जन्म में यहाँ आया था, कहने जा ही रहा था, उतने में मुझे याद आया—बेलगाँव से गोवा जाते समय अनमोड़ घाट उतरते समय दिखने वाले दृश्य यही हैं। मुझे हमारे यहाँ के अंबोली घाट की याद आई और कहा—यह वही दृश्य है। अनमोड़ परिवेश में मैं कई बार जाकर आया हूँ। पर वहाँ रुका नहीं था। अंबोली में रुका था। पहली बार वहाँ जाते समय व्हिटमन का 'lives of grass' किताब ले गया था। वहाँ उस काव्य में विचरण कर रहा था। पर अंबोली के नयन मनोहर दृश्यों को चारों दिशाओं में फैला देखा, काव्य नीरस लगा तो किताब को एक तरफ़ रख उस नीरवता में खो गया था।

अंबोली की याद से मन ख़ुशी से नाच उठता। पर अंबोली जैसे ही दृश्य को देखने, इतनी दूर हिमालय को आना चाहिए था क्या? एक और मन कहता।

मैंने नरेश से पूछा—हिमालय, हिमालय कहते हैं, इतना ही क्या?

वह मुझे देखकर मुस्कुराया। वह बाहर के दृश्य देखकर 'मस्त' हुआ था। मनमस्तु हुआ तब क्यों बोले?

मैं मन-ही-मन फुसफुसाया—हिमालय का वर्णन करने वालों ने कभी गोवा को नहीं देखा होगा। क्या गोवा का प्राकृतिक सौंदर्य इससे कम है? हिमालय के जैसे लोगों को गोवा का वर्णन लिखना चाहिए था। केवल हिमालय को सुंदर कहना अतिशयोक्ति है। पर जब हमने नरेंद्र नगर को पार किया तब मुझे अपने अभिप्राय को बदलना पड़ा, ऐसा प्रसंग आया।

हमने सैकड़ों पर्वतों की प्रदक्षिणा की। आठ मील चढ़े, सात मील उतरे। फिर आठ मील चढ़े और बारह मील उतरे। हिमालय के हृदय में घुसने लगे। जैसे-जैसे आगे बढ़ने लगे, इन सबको देखने के लिए दो आँखें कम पड़ जाएँगी। मैं अनमोड़ को भूल गया। उस समय तक देखे सभी सुंदर स्थलों को भूल गया। आँखों के सामने दिखाई देने वाले सुंदर-भव्य दृश्यों में खो गया।

पश्चिम में नीले, हरे रंग की घाटी, उसके नीचे बिछे भगवा केसरिया रंग के खेत। ऊपर नीला स्वच्छ गगन, उस पर तरह-तरह के चित्र को रेखांकित करने वाले धवलकांति से युक्त बादल। मैंने कहा, स्वर्ग कहाँ है? वह यहीं है, यहीं है। धूप निकल आई थी। मेरा हृदय ख़ुशी से झूम उठा। शाम क़रीब पाँच बजे हम धरासू आए।

धरासू के पास गंगा के किनारे यहाँ-वहाँ विश्राम-स्थल थे। उन्हें एक प्रकार की धर्मशालाएँ कह सकते हैं। आने-जाने वालों के लिए आसरा देने वाले स्थान। हमारे गोवा में कुछ स्थानों पर घर के पार्श्व में मिट्टी से बने 'लॉज' होते हैं न! सामान्यतः उसी प्रकार के घर। उत्तराखंड के जमुनोत्री-गंगोत्री की राह में इस प्रकार की धर्मशालाएँ हर पाँच-सात मील के अंतर पर हैं। उसमें अधिकतर धर्मशालाएँ काली-कमलीवालों के शासन में आती हैं। इन्हें उन्होंने ही बनवाया था।

सौ-सवा सौ साल पहले काली-कमलीवाला नामक एक साधु था। वह काला कंबल ओढ़ता था, इसलिए उसे काली कमलीवाला कहते थे। वह ऋषिकेश में रहता था। उसके यहाँ एक दिन एक मारवाड़ी आया। व्यापार में नुक़सान होने से वह जीवन में हताश हो गया था। मन की शांति के लिए वह घूमते-घूमते ऋषिकेश आया था। वहाँ काला कंबल ओढ़ने वाले साधु के बारे में सुनकर उससे मिलने गया। साधु ने उससे क्या कहा, किसे मालूम! शायद उसने कहा होगा कि "कष्ट के दिन जाएँगे और सुख के दिन आएँगे।" अथवा "जो भी होता है, अच्छे के लिए होता है"—ऐसा भी कहा होगा। पर एक बात तो सच है, मारवाड़ी वहाँ से आते ही एक नया आदमी बन गया था। फिर से व्यापार किया, सफलता पाई और पहले से भी अधिक अमीर बन गया। जीवन में जो भी होता है, वह हमारे अच्छे के लिए होता है—यह भावना भी उसके मन में उभरने लगी। उसे यह भी लगा कि आज उसके पास जो सुख-समृद्धि है, वह काला कंबल ओढ़नेवाले बाबा के कारण है। इसलिए वह फिर से उन्हें मिलने ऋषिकेश गया। मारवाड़ी को लगा, बाबा ने जो उपकार उस पर किया है, कोशिश करने पर भी वह उस ऋण को उतार नहीं पाएगा। उसने बाबाजी से सविनय पूछा—"फूल नहीं तो फूल की पँखुड़ी ही सही, कुछ देना चाहता हूँ...क्या दूँ?"

बाबा क्या पूछ सकते हैं! अपने-आप ईश्वर को समर्पित होने वाले साधु, उन्हें क्या कमी है! उन्होंने कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। लेकिन तुम्हारी ख़ुशी

के लिए एक मशवरा दूँगा। हिमालय की यात्रा पर आने वाले यात्रियों के लिए कहीं भी रहने के लिए छत नहीं है। अगर तुम पैसे ख़र्च करना ही चाहते हो तो जमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ आदि क्षेत्रों में पाँच-पाँच या सात-सात मीलों की दूरी पर एक-एक धर्मशाला का निर्माण करो।'' मारवाड़ी ने ख़ुशी से धर्मशालाओं का निर्माण किया। उनकी देखरेख की ज़िम्मेदारी इस काले कंबल को ओढ़ने वाले संन्यासी ने ली। उस दिन से 'काली कमलीवाला' नामक एक बड़ा ट्रस्ट इसकी देखभाल करता है। यह ट्रस्ट हिमालय के यात्रियों के लिए रहने की व्यवस्था करता है। इसके अलावा नामांकित प्रसिद्ध साधु-संतों के लिए खाने और रहने की व्यवस्था भी करता है।

हमने धर्मशाला के चौकीदार को ढूँढ़कर उससे एक कमरा ले लिया। कमरे में सामान रखा। चौकीदार की दुकान से ही दाल, चावल, आलू आदि सामान खरीदे। बर्तन लेकर गए थे, हमें खाना बनाने के लिए जगह चाहिए थी। देवेंद्र ने कहीं से तीन पत्थर लाकर मैदान में चूल्हा बनाया, लकड़ी चौकीदार से ही ख़रीदी और चूल्हे पर खिचड़ी पकाई। हम स्नान करने के लिए गंगा नदी गए। स्नान करके, खाना तैयार कर खाने के बाद कब निद्रादेवी की शरण में चले गए, पता ही नहीं चला।

हम सुबह जग गए। मैं 'उठ जाग मुसाफ़िर, भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है' भजन को गुनगुनाते हुए कमरे से बाहर आ गया। मंद-मंद शीतल हवा बह रही थी। ऐसा लगा मानो आसमान नहाकर शुचिभूत हो गया है। नाक में हिमालय की मिट्टी की सोंधी सुगंध चली गई। कानों को पंछियों का आलाप सुनाई देने लगा। मैंने चारों तरफ़ नज़र घुमाई। मुझे आज का दिन 'अब खिलेगा' कहने वाली कली की तरह लगा। आमतौर पर हर दिन नए दिन की तरह लगता है। लेकिन हिमालय पर बिताया हुआ हमारा पहला दिन था यह। मैं शॉल ओढ़कर बाहर आया। गंगा किनारे एक पत्थर पर बैठकर प्रभात का 'मूड' देखने बैठा। पंछियों के गान पर गंगा 'ताल' बजा रही थी।

मन में 'उठ जाग मुसाफ़िर ' भजन चल रहा। अब वह 'यह प्रीत करन की रीत नहीं, रब जागत है तू सोवत है' जैसी पंक्तियों के साथ घूम रहा था। मुझे लग रहा था कि इस जगत के पीछे का जगदीश मेरी ओर इशारा कर रहा है। उस संकेत का अर्थ भी मुझे स्पष्ट हो रहा है। मुझे लगा, उस पर मेरा जो प्रेम है उससे अधिक

मुझ पर उसका प्रेम है। मुझे अपना बनाने की उसकी कोशिश मेरी कोशिश से भी गहरी है। हम माँ से प्यार करते हैं उससे अधिक माँ हमें प्यार करती है। यह भी ऐसा ही है।

कुछ समय तक इसी मूड में था। ठीक से उजाला होने पर मैं वापस धर्मशाला में लौटा। धर्मशाला में आया तो देखा—एक ढलती उम्र की महिला ज़मीन पर सर पटक-पटककर रो रही है। कुछ लोग उसके आसपास खड़े होकर 'क्या हुआ?', 'क्यों रो रही हो?' पूछ रहे हैं। किसी ने कहा—''वह कल बस से आई है।'' ''हाँ, मैंने भी उसे बस में देखा था। वह जब सोई थी तो उसका साथी उसे छोड़कर चला गया है।'' मुझे उनकी बातें समझ में नहीं आईं। उसका साथी यानी कौन? उसे क्यों छोड़कर चला गया? ऐसा था तो उसे यहाँ तक क्यों लेकर आया? ऐसे में वह उसके साथ यहाँ तक क्यों आई? धीरे-धीरे सब स्पष्ट होने लगा। वह औरत बिहारी थी, उसका बेटा जमुनोत्री, गंगोत्री की यात्रा पर निकला, तो यह भी उसके साथ यात्रा पर आई। यहाँ आने पर बेटे को लगा कि माँ उसके साथ तेज़ी से चल नहीं सकेगी। वह अपनी सुविधा से आराम से आए, मैं आगे जाऊँगा, ऐसा सोचकर वह आगे निकल गया था।

मेरे क्रोध का पारा चढ़ गया। इतनी दूर, वह भी अनजाने गाँव में! गाँव कहाँ, जंगल में अपनी माँ को छोड़कर जाने वाला वह बेटा कैसा होगा! इंसानियत न रखने वाला यह मनुष्य आख़िर हिमालय में क्या करने आया है? पापों को धोने के लिए? या नए-नए पापों को अर्जित करने? माँ को घने जंगल में छोड़कर जाने वाले को मनुष्य कैसे कहें? या क्या वह पत्नी का ग़ुलाम है? माँ मरे तो यहीं मर जाए, सोचकर छोड़कर चला गया है? मेरी आँखों के सामने मेरी माँ आकर खड़ी हो गई।

जब मैं पैदा हुआ था तो यह संसार मेरे लिए अपरिचित था। मैं कहा हूँ, मेरा स्वागत कैसे होगा, इसकी कल्पना ही नहीं थी। ऐसे अपरिचित संसार में, मेरे आने की आशा में माँ आँखों में तेल डालकर बैठी थी। उसने मुझे नहीं देखा था। पर मेरे आने की ख़बर उसे थी। मेरे आने से उसका चेहरा खिला था, ममता से उसका हृदय भर गया था। मेरे लिए जान भी दे सकती थी। इस संसार की ओर से सबसे पहले मेरा स्वागत करने वाली मेरी माँ ही थी। उसी ने मुझे सिखाया कि इस संसार में मेरा अस्तित्व क्या है, कहाँ है। उस दिन से मैं उसमें आदिमाया को देख रहा हूँ।

मन में कहा—''माँ के महत्व को न समझने वाले बच्चों का जन्म ही नहीं होना चाहिए।'' मेरा हृदय विचलित हो गया। मुझसे ही ऐसा अपराध हो गया, ऐसा

लगने लगा। उसे कहने का मन किया—''तुम उठो मत माँ....मैं हूँ। मैं तुम्हें सब तरफ़ घुमाकर लाऊँगा।''

इसी बीच मुझमें व्यवहारी मनुष्य जागृत हुआ। उसने कहा—''इस बूढ़ी को सहानुभूति दिखाओगे तो दंड भरना पड़ेगा।'' मेरा मन कठोर हुआ। फिर भी अंत में मैंने कहा—''डरिए मत...हम आपके साथ हैं...।''

लेकिन वह कहाँ मानती! वह सिर दबाकर रोने लगी। रो-रोकर थक गई। और अंत में चुप हो गई। सब भूल गई...अपनी गठरी सर पर रखकर अकेली चल पड़ी।

एक ने पूछा—''कहाँ जा रही हो, माँ?''

''जमुनोत्री''—उसने कहा।

मैंने पहले ही कहा है कि मैं संसार से विरक्त होकर हिमालय नहीं आया हूँ। साधना करने के लिए भी नहीं आया हूँ। मैं यहाँ आया हूँ सौंदर्य का पुजारी बनकर, सौंदर्य से प्रेम करने वाला, प्रकृति का भक्त बनकर। किसी ने नहीं देखा उसे देखने के लिए, कोई न पहुँचा ऐसे स्थान पर पहुँचने के लिए—उत्साह से आया हूँ। जवानी का ख़ून, दुःख-दर्द के एहसास के बिना। इसी उम्र में Aesthetic Journey करने के संकल्प से आया हूँ।

लेकिन हिमालय का वातावरण ही अध्यात्म से भरा है। मैं भी क्या करूँ! वह मन पर प्रभाव डाले बिना कैसे रह सकता है! तुम्हारी बुद्धि कितनी भी पत्थर दिल क्यों न हो, यहाँ के विरले दृश्यों को देख उसे कोमल होना ही पड़ता है। इसलिए इस संसार के पीछे जगत निर्माण करनेवाला दिखाई देता ही है। इस दृष्टि से यहाँ वह कोमल होती है। कोमल होती है तो हिमालय उसे दिशा एवं काल के उस पार घुमाकर लाता है और उसे 'सनातन' तत्व का परिचय कराता है। आत्मा है या नहीं, संशय तेरे मन में होगा, हिमालय उसे तुम्हें दिखाता है। संसार में कभी भी नहीं रहनेवाला कुछ है तो वह है आत्मा तत्व। चारों दिशाओं में फैले जगत को देखते हैं तो वह केवल उसका बाह्य रूप है, केवल परछाई। तेरे अंतरंग के अंतरंग में भी वही है। बाहर तुम्हें जो दिखाई देता है उसमें भी वही है। उतना ही नहीं, तुम्हें कहता हूँ तुम और वह एक ही है। वह और यह सब एक ही है, तुम और यह सब एक ही है...।

ऋषि-मुनियों को हिमालय में ही उपनिषद ज्ञात हुए होंगे। वे यहाँ आए, ध्यान करने बैठे। उन्होंने अपनी आँखों के सामने पर्वतों को रखा। उनके आधार पर जीवन के, उन्नत तत्त्वों को खोजकर निकाला। *छांदोग्य* उपनिषद में नारद एवं सनतकुमार के बीच का संवाद है। नारद यानी उस समय का बहुत बड़ा बुद्धिजीवी। वह सनतकुमार के पास जाकर कहता है—''तुम्हारे पास कहने के लिए क्या है, कहो...।'' सनतकुमार कहता है—''तुम्हें क्या पता है, पहले कहो।'' तब नारद 'मुझे यह पता है, वह पता है' कहकर एक सूची ही देता है। अंत में वह कहता है, मिठाई का स्वाद कैसा होता है, इसका वर्णन मैंने पढ़ा है। पर मिठाई को आज तक खाकर नहीं देखा। मैं अभी आत्मवित् नहीं बना हूँ। सनतकुमार उससे कहता है—''तुम्हें जो मालूम है यह उससे ऊपर है, उससे और भी ऊपर। पर ये सब अल्प हैं, उसमें सुख नहीं। 'नाल्पे सुखम अस्ति।' तो सुख किसमें है? 'यो वै भूमा तत् सुखम'। 'भूमा' यानी बड़ा...बड़े में बड़ा...उससे बड़े में सुख किसमें है? 'यो वै भूमा तद् अमृतम्...' जो बड़ा है उसमें सुख है, वह तुम्हें पता होना चाहिए। उसके बाद तुम 'आत्मवित्' बनोगे...मन जब छोटा होता है तो वह पापकूप में गिरता है। मन को बड़ा करो, वह पातक से बचता है। मन को बड़ा करने के लिए 'भूमा' को आँखों के सामने रखो और 'भूमा' से परिचित होना है तो हिमालय आओ। सनतकुमार को 'भूमा' का परिचय हिमालय में ही हुआ होगा...

सुबह के दस बज गए होंगे। मैं नहाने गंगा नदी गया। सूरज ऊपर आया था। पानी ठंडा था, पर शरीर पर डाल सकते थे। बहुत देर तक स्नान किया। बाद में छाया ढूँढ़ते हुए एक पत्थर पर जाकर बैठ गया। चारों तरफ़ खड़े पहाड़ मुझे ही देख रहे थे। मैं पहाड़ों के पेड़-पौधों की ख़ूबसूरती को देख रहा था। एक पेड़ मरूगल पेड़ की तरह लंबा, कारवार के समुंदर के किनारे के हवा के पेड़ की जाति का लगा। मैंने कहा, इसका मुख परिचित-सा लगता है लेकिन इससे पहले मैंने कहीं नहीं देखा। उस पेड़ को 'चीड़' कहते हैं। वह पाँच हज़ार फ़ीट से भी ऊपर के प्रदेश में उगता है। इसका दूसरा भाई देवदार है। वह तुम्हें आगे देखने को मिलेगा। वह इससे भी ऊपर के प्रदेश में उगता है।

परिचय से पहले थोड़ा संकोच था, बाद में नहीं। हम दोनों में दोस्ती हो गई। उस पेड़ से तिर्बिटिन जैसा तेल निकलता है। गोंद के जैसा रस भी निकलता है। उस पेड़ की लकड़ी को घर बनाने के उपयोग में लाया जाता है, यह बाद में पता चला। इन वृक्षों ने धरासू की शोभा बढ़ाई है।

मेरी आँखें गंगा की तरफ़ मुड़ीं। वह युवती की तरह दिखाई दे रही थी। मैं यौवन की दहलीज़ पर हूँ, इसका ज्ञान भी उसे नहीं था। वह स्वच्छंद होकर नाच

रही थी। कुछ पहाड़-पत्थर उसके रास्ते में आड़े आ रहे थे, फिर भी वह बड़ी चालाकी से यहाँ-वहाँ से आगे बढ़ रही थी। उस समय वह हँसती थी और उसे भर आँख देखने का मन करता था।

मैं एक तरफ़ बैठकर आस-पास के दृश्यों को देख रहा था। नहीं, कहो पी रहा था। एक-एक घूँट के साथ झूमने लगा। मैं 'जड़' में 'चैतन्य' ढूँढ़ रहा था। *ईशोपनिषद* मुझे कंठस्थ हो गया था। उसे मन में ही गुनगुनाने लगा। शांतिपाठ के बाद 'ईशावास्यम् इदं सर्वम् यत्किंच जगत्याम् जगत्' नामक प्रथम श्लोक तक पहुँचा। आगे का श्लोक याद नहीं आ रहा। मुँह से आगे का श्लोक बाहर नहीं निकलता। इस एक श्लोक पर ही चित्त केंद्रित था। मैं अपने-आप में बड़बड़ाया। यह जो सामने दिखाई दे रहा है या है, वह इस जगत का जगत है। अर्थात् चलने वाला, आगे बढ़ने वाला, नष्ट होने वाला, अस्थिर वह पैदा होता है, बदलता है, मरता है। उसे स्थिर ईश तत्व से भरो...चैतन्य से भरो।

एक बार एक व्यक्ति ने शहद में ब्रेड डुबोकर पूरी रात रखी। अगले दिन देखा—ब्रेड के कण-कण में शहद भर गया था। मुझे उपनिषद कहने लगा—"तुम्हारी आँखों के सामने दिखने वाली सृष्टि नष्ट होने वाली होगी। उसमें चैतन्य भरो। बाद में देखो, तुम्हें एक नया अनुभव होगा। जीवन में एक प्रकार की आनंदानुभूति का एहसास होगा।" स्पर्श का एक आनंद होता है, गंध का एक और आनंद होता है। उसी प्रकार अनुभव का आनंद भी एक और तरह का होता है।

एक बार एक गूँगे को सपना आया। उससे उसे ख़ुशी हुई। उसे अपने सपने को दूसरों के साथ बाँटने का मन हुआ। लेकिन कहता कैसे? 'गूँगे को सपन भयो समझ-समझ पछताय...' की तरह हो गई मेरी स्थिति।

एक प्रश्न का उत्तर यहीं देना उचित होगा। हिमालय को देखने की इच्छा मुझमें कब पैदा हुई? क्यों हुई? कैसे हुई?

एक गोवा वाला, दुनिया के किसी कोने में जाकर रहे, वह कभी अपनी मातृभूमि को नहीं भूलेगा। अंत में बुढ़ापे में ही सही, गोवा में आकर वहाँ की मिट्टी में अपने शरीर को विलीन करने की इच्छा उसमें होती है। उनकी धमनियों में बहने वाला आर्यरक्त का हिमालय से संबंध अवश्य है। वह हिमालय को कभी नहीं भूला। काका साहब कालेलकर कहते हैं—"इतिहास कुछ भी कहे, संस्कारों की गहराई देखें तो आर्य मूलतः हिमालय वासी होंगे। नहीं तो हिमालय का आकर्षण

हमारे अंदर पैदा होने का क्या कारण है?'' जीवन में एक बार तो हिमालय को देखकर आना है—ऐसा लगना एक प्रकार का हिम सिकनेस होगा। नहीं तो इतने दिन चुप रहकर, इस बुढ़ापे में जब हाथ-पाँव काँपते हैं, तन-मन जब विश्राम चाहता है, शरीर ढीला पड़ गया है। अब दूसरे स्थल पर कैसे रहें, जीव को ले जाकर घर में डालना अच्छा है...ऐसा हमें क्यों लगता है? *महाभारत* से पहले से ही हमें ऐसे लगते आया है। हज़ारों साल गुज़र गए। हर साल हज़ारों भारतीय हिमालय यात्रा के लिए इसी संस्कार के कारण जाते रहे हैं।

मुझमें भी ये संस्कार हैं। धरासू पहुँचने तक मुझे ऐसा ही लगा कि मैं काका साहब की प्रेरणा से हिमालय की यात्रा पर आया हूँ। पर हिमालय यात्रा की किताब मैंने ख़ुशी से पढ़ी थी। हिमालय को देखने की प्रेरणा और हिमालय को आस्वादित करने की दृष्टि इसी पुस्तक ने दी। मुझ पर काका साहब के प्रभाव के समान, उनकी किताब का भी प्रभाव हुआ है। धरासू के रास्ते में टिहरी नामक गाँव को देखा। वहाँ मेरे मन की खिड़की खुली।

जब खिड़की से बाहर देखा तो पता चला, काका साहब का नाम भी नहीं सुना था, उस उम्र में हिमालय देखने का कौतूहल मुझमें था। तब मैं शायद 17-18 साल का होऊँगा। विवेकानंद जी की किताबों से भारत के ध्येयवाद को जानने की हड़बड़ी पैदा हुई थी। उस समय स्वामी रामतीर्थ की पुस्तकें भी हाथ लगी थीं। उनमें हिमालय के वर्णन को पढ़ा था। हिमालय अर्थात् एक आश्चर्य। उसे देखने पर रोमांच होता है। जब ऐसा लगा और उसे देखना ही चाहिए ऐसा मैंने तभी निर्णय लिया था। नए-नए प्रदेशों को देखना, कठिन, साहस की यात्रा करके नए-नए अनुभवों को पाने की उत्सुकता जवानी में होती है। बचपन में माता-पिता के साथ उत्तर भारत में की गई यात्रा से हृदय रूपी खेत को जोता था। रामतीर्थजी ने उसमें बीज बोया और काका साहब के साहस से पानी-खाद डाला गया।

उपजाऊ ज़मीन में बोए गए बीज को खाद-पानी डालने पर जैसा होता है वैसा ही हिमालय के प्रति मेरे मन में हुआ था। पैर अब चलने लगे.....

हम धरासू में एक ही दिन रहे। दूसरे दिन गंगा को 'आएँगे' कहकर निकल पड़े। सुबह के पाँच बज गए थे। उस समय उजाला नहीं हुआ था, अभी अँधेरा था। एक भी पंछी जागा नहीं था। कुछ उस घोर अंधकार में भी चमक कर सबेरा होने की आशा जगा रहे थे। मुझमें एक प्रकार का डर समाया हुआ था। क्या पैदल चलना

संभव होगा, क्या जमुनोत्री पहुँचेंगे, आदि संदेह एक तरफ़ सता रहे थे तो दूसरी तरफ़ जमुनोत्री देखने का उत्साह और तीव्र हो रहा था। हमें कौन रोकेगा, कौन हमें पीछे की ओर खींचेगा, पीछे खींचने के डर को भुलाकर हम आगे बढ़े।

छह-सात मिनट चलने पर एक पहाड़ आया। इस पहाड़ से एक पगडंडी जमुनोत्री को जाती है। कुछ दूर तक चलने पर दो रास्ते दिखाई दिए। जमुनोत्री को किस रास्ते जाएँ? किससे पूछें? किसी से पूछे बिना आगे बढ़ना उचित नहीं सोचकर वहीं रुक गया। यहाँ एक क़दम के ग़लत होने पर कहीं से कहीं जाकर सुखानुभव से वंचित हो सकते हैं। नरेश भी एक पल के लिए मेरी तरह रुक गया, फिर दाईं ओर के रास्ते को सही मानकर आगे बढ़ा।

मैं 'आगे क्या करें' सोचते हुए वहीं खड़ा था। उतने में एक बूढ़ा दिखाई दिया। जब वह पास आया तो मैंने पूछा, ''भाई, जमुनोत्री जाने का रास्ता कौन-सा है?'' नरेश जहाँ गया था, उस तरफ़ उँगली दिखाकर उसने कहा—''वही जमुनोत्री का रास्ता है।''

मैं सोच में पड़ गया। इसे कैसे पता? यह तो यहाँ का नहीं लगता। उसके हाथ की छड़ी, पीठ पर लादी गई गठरी देखें तो लगता है कि यह भी हमारी तरह एक यात्री है। ऐसा होने पर भी वह आत्मविश्वास के साथ 'यही रास्ता है'—कैसे कह सकता है! नरेश को जाते देख उसी को सही रास्ता माना होगा? अथवा यह इससे पहले भी आकर गया होगा? मैंने उससे पूछा—''आपको कैसे पता चला कि यही रास्ता जमुनोत्री को जाता है।''

यात्रा पर निकले लोगों की छठी इंद्रिय जाग्रत हुई होगी। कुछ बातें उन्हें अपने-आप मालूम होती हैं। वह मेरे प्रश्न का उत्तर देने लगा, जमुनोत्री का रास्ता यमुना के किनारे से जाता है। यमुना का तट पहाड़ के नीचे होगा। बाईं ओर से जाने पर पहाड़ पड़ सकते हैं—''यह तो एक सादा गणित है।''

मुझे यह गणित ठीक लगा। मैंने नरेश को पुकारकर कहा—''वही जमुनोत्री का रास्ता है।''

मुझे मराठी में बोलते सुन उसने भी मराठी में कहा—''हाँ, यही रास्ता है।''

हम दोनों ने परस्पर एक-दूसरे को देखा। हम दोनों की नज़र मिली। पता नहीं कैसे, हम दोनों परिचित बन गए। मुझे तो, इस अपरिचित जंगल में पहले ही दिन कोई नज़दीकी रिश्तेदार मिला, इतनी ख़ुशी हुई। उसने मुझसे पूछा—क्या आप महाराष्ट्र के हैं?

क्या उत्तर दूँ? ना कहूँ? कई सालों से गोवा वाले महाराष्ट्री नहीं हैं, कहते आया हूँ। मराठी और गुजराती भिन्न हैं, पंजाबी और काश्मीरी अलग हैं, बिहारी तथा बंगाली भिन्न हैं, उसी प्रकार कोंकणी और मराठी को अलग मानते आया हूँ। उतना ही नहीं, ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहते आया हूँ। झगड़ा करते आया हूँ। मुझे पता है—हम मराठी में लिखते हैं, पढ़ते हैं, सीखते हैं, मराठी भजन गाते हैं। मराठी नाटकों का प्रयोग करते हैं। फिर भी हम उनसे अलग हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। चार शताब्दी तक हम पुर्तगाल के शासन में रहने पर भी पुर्तगाली नहीं बने। उसी चार शताब्दी में मराठी संस्कृति की छाया में रहने से हम महाराष्ट्री नहीं बनते हैं। उपनिवेशवाद क्या केवल राजनीतिक होना चाहिए? संस्कृति के मूल में भी एक उपनिवेशवाद चलता है। राजनीतिक उपनिवेशवाद मनुष्य को बाँध देता है। संस्कृति के मूल का उपनिवेशवाद आत्मा को मारता है। हमारी राजनीतिक अस्मिता अभी जाग्रत हुई है। संस्कृति के मूल में रहने वाली अस्मिता को जाग्रत करने के लिए इच्छुक कहने वाले और उसके लिए परिश्रम करने वाले...

मुझे स्मरण हुआ। मैं अरविंदजी के दर्शन के लिए पांडिचेरी जा रहा था। रास्ते में काटपाड़ी स्टेशन पर रेल का इंतज़ार कर रहा था, तमिल भाषा समझता नहीं था, अंग्रेज़ी भी कुछ-कुछ ही आती थी। उतने में वहाँ एक गुजराती व्यक्ति दिखा। मैंने उसके पास जाकर पूछा, ''आप गुजराती छो के?''

हम दोनों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं था। दूसरा व्यक्ति हमारी भाषा में बोलता है तो वह दूसरा नहीं होता। वह हमारी तरह दिखता है। भाषाएँ मनुष्य का हृदय जीत लेती हैं। मन को पिरोने का काम करती हैं। मैं उस व्यक्ति से कहना चाहता कि मैं मराठा नहीं हूँ, पर मेरे मुँह से शब्द निकले—''हाँ..मैं भी महाराष्ट्री हूँ।''

उसी क्षण हमारी पार्टी में और एक व्यक्ति जुड़ गया। मैंने उससे पूछा—''आपका नाम क्या है?'' ''हरिकृष्ण करंदीकर''—उत्तर मिला।

करंदीकर भुसावला के स्टेशन मास्टर थे। हाल ही में निवृत्त हुए थे। त्रिस्थली की यात्रा पूरी कर वे हिमालय आए थे। उन्होंने हिमालय की पूरी यात्रा हमारे साथ की। हमारी जवानी को, हमारे उत्साह को नियंत्रण में रखने के लिए एक बुज़ुर्ग व्यक्ति की ज़रूरत थी। अपने उत्साह के साठ साल पूर्ण कर आगे के कँटीले राह पर अकेले निकले इस बुज़ुर्ग को युवकों की आवश्यकता थी। भगवान ने पहले दिन ही इन दोनों ज़रूरतों को पूर्ण करने की व्यवस्था की।

पैदल यात्रा का यह पहला दिन। पश्चिम दिशा के एक पर्वत पर चढ़ने लगे। कुछ समय के पश्चात् पूर्व दिशा में धूप दिखाई दी। समय बीतने लगा। अँधेरा निकलकर रोशनी उभरने के ठीक समय पर हमने जंगल में प्रवेश किया। ऐसा लगा कि सैकड़ों चीड़ के वृक्ष भी हमारे साथ जमुनोत्री की यात्रा पर निकले हैं। कितनी ही देर वे हमारे साथ आते रहे और झट से एक तरफ़ रुक गए। "अब बस्...आप बहुत दूर से आए हैं। इसलिए आपके सम्मानार्थ अब तक आपको सीमा पार कराने साथ आए। आगे दूसरे आपके साथ होंगे...।"

हम आगे बढ़ने लगे। आगे जंगल.. वहाँ एक गुलाब का बड़ा बग़ीचा दिखाई दिया। गुलाब, गुलदाऊदी के खिले फूलों की सुगंध फैली थी। उसका लाल रंग तन-मन में भर गया। मंद सुगंध चारों ओर फैली थी, जिससे नाक फूल गई। इसी बीच लगा कहीं यहाँ विश्वामित्र तपस्या के लिए तो नहीं बैठे। गुलाब, गुलदाऊदी के इस जंगल को तपोवन की रौनक़ आई थी। विश्वामित्र ऐसे स्थान पर ही तपस्या करने बैठते थे। विश्वामित्र की याद आने पर मेरी आँखें इधर-उधर मेनका को ढूँढ़ने लगीं।

सात-आठ मील के उतार-चढ़ाव के बाद दस-बीस घरों का बरम-साल नामक गाँव मिला। वहीं तीन दीवारों की छोटे कमरे की एक झोंपड़ी मिली। उस गाँव के एक किसान ने जमुनोत्री के यात्रियों के लिए इसे बनाया था। वहाँ उसकी एक दुकान थी। दोपहर का एक बजा था। हम बिना विश्राम लिए चलते ही आए थे। हमें थकान के साथ भूख भी लगी थी। हमने वहाँ दाल-चावल ख़रीदा, खाना बनाकर खा लिया।

एक घंटा विश्राम कर फिर से चलने लगे। 13-14 मील चलकर रात में सिलक्यारा में रुकने का निर्णय किया था। प्रतिदिन कितना चलना है, कहाँ विश्राम करना है, कहाँ-कहाँ रहना है, आदि के बारे में नरेश ने पहले ही तय किया था। जमुनोत्री अट्ठाइस मील दूर है। उसने निर्णय लिया था कि पाँच दिनों में वहाँ पहुँचना है। उसकी योजना के अनुसार हम चल रहे थे। "आप धीरे से आइए... मैं आगे जाकर विश्राम के स्थल ढूँढूँगा।" कहकर वह आगे गया। देवेंद्र भी उसके पीछे चल पड़ा। करंदीकर की उम्र ही गई थी, पर गति कुंठित नहीं थी। वे भी उन दोनों के पीछे गए। सबसे पीछे बचे हम दोनों—मैं और गोदु। हमारी गति धीमी थी। हमें राह में कुछ परिचित, कुछ अपरिचित पेड़—जिन्हें कभी नहीं देखा था—मिले। उनसे बातचीत किए बिना आगे क़दम नहीं रख सकते। नरेश हमसे भी सूक्ष्म था, पर वह पहले एक बार आकर गया था। उसके लिए कुछ भी अपरिचित नहीं था।

हम दोनों अपनी गति में ही आगे बढ़े। सुबह की तरह हमें चीड़ वृक्षों का एक जंगल दिखा। चढ़ती धूप में जंगल की सुंदरता कुछ और ही होती है। दोपहर के समय में जंगल में घूमने से एक प्रकार की ख़ुशी होती है। मनुष्य के अंग एक समान होने पर भी एक के जैसा दूसरा नहीं होता, वैसे ही वृक्ष भी होते हैं। एक ही जाति के पेड़ होने पर भी एक जैसा दूसरा नहीं होता। मनुष्य-मनुष्य में जैसे भिन्नता होती है वैसे ही वृक्षों में विविधता होती है। जंगल, जंगल में यह भिन्नता दिखाई देती है। मैं जंगल की सुंदरता का आस्वादन करते चला था। इतने में किसी के पेड़ काटने की आवाज़ सुनाई दी। कुछ ही समय में पेड़ के नीचे गिरने की आवाज़ भी आई। मैं उस आवाज़ की तरफ़ बढ़ा। पाँच मिनट चलने पर हॉफ़ पैंट और टोपी पहने एक ग्रामीण साहब खड़ा दिखाई दिया। वह अपने साथ एक नौकर भी लेकर आया था। साहब एक-एक पेड़ दिखा रहा था, नौकर उसे काटकर गिरा रहा था—लगभग एक हफ़्ता यही काम। कितने ही चीड़ के वृक्षों को उन्होंने धराशाई किया था। मुझे दोनों पर ग़ुस्सा आया। दोनों को नीचे धकेल देने का मन किया। मुझसे उन चीड़ के पेड़ों की दुर्दशा देखी नहीं गई।

इन घातकों को सरकार ने ही भेजा था। उन्हें पैसे देकर इस बुरे कर्म को करवाया था। यह लकड़ी रेल की पटरियों को जोड़ने के लिए अत्यंत उपयोगी है। सरकार को इन पेड़ों से बहुत फ़ायदा होता है। फ़ॉरेस्ट डिपार्टमेंट का यही काम है— यहाँ हर साल लोगों को भेजना, काटने वाले पेड़ों को पहचानना, पेड़ काटने वालों से पेड़ों को काटकर तख़्तों को बनाना, काटे हुए तख़्तों को नदी में फेंकना लकड़ी पानी में ख़राब नहीं होती है। तख़्ते तैरते-तैरते आगे बढ़ते हैं। बीच में फँस गए तख़्तों को सरकार से नियोजित व्यक्ति एक छड़ी से फिर से आगे तैरने कर देता है। इन लकड़ियों को सरकार ऋषिकेश अथवा हरिद्वार में इकट्ठा करती है। हिमालय की नदियाँ ट्रांसपोर्ट कंपनी का काम करती हैं, यह मुझे पहली बार मालूम हुआ।

मैंने उस हैटवाले से पूछा : ''पेड़ काटना आपको अच्छी तरह से आता है।.....उसी प्रकार क्या पौधों को लगाते हो?'' पौधों को लगाना पड़ता है, यह उन्हें कहाँ पता! शायद वह इस संस्कृति में पला होगा जहाँ सोचते हैं कि पौधे अपने आप उगते हैं। उसे मेरे प्रश्न का मतलब भी समझ में नहीं आया। उसे लगा होगा, यह कौन है...जो बड़बड़ा रहा है। मुझे उस पर दया आई। पर मेरा ग़ुस्सा ठंडा नहीं हुआ था। मैंने उसे मन में ही शाप दे दिया। ''अगले जन्म में तुम्हारी स्थिति भी ऐसी ही हो।''

मैंने आगे क़दम बढ़ाया।

हम सब अच्छे के लिए अच्छे और बुरे के लिए बुरे। लेकिन संत-महात्मा कहते हैं—इसमें कोई बड़प्पन नहीं। और? बुरा करने वाले के साथ भी भला करना चाहिए, इसे ही इंसानियत कहते हैं। हमें संतों से यही सीखना चाहिए। सच्चे संत पेड़ों से यही शिक्षा पाते हैं। पेड़ ख़ुद धूप को सहकर दूसरों को अपनी छाया देते हैं, पत्थर मारने पर भी फल देने वाले पेड़ों से संतों ने प्रेरणा पाई होगी।

लेकिन संतों को भी, पेड़ अपने को जो प्यार करते हैं उन्हें प्यार से देखते हैं यह पता नहीं था। नहीं तो, 'काटे वाको क्रोध न करहीं, सिंचत न करहीं नेह' ऐसा वे नहीं कहते। कुल्हाड़ी से चोट पहुँचाने वालों पर पेड़ कभी क्रोधित नहीं होते, सच ही होगा। लेकिन पानी देने वाले से भी वे प्यार नहीं करते, यह सच नहीं। उनको पानी दो, खाद दो, उनकी जड़ों को ढीली कर मिट्टी डालकर देखो। तुम्हें वे कैसे प्यार करते हैं। तुम को देखकर वे ख़ुश होते हैं। 'तुम्हें क्या दूँ, क्या छोड़ूँ' सोचकर वे तड़पते हैं। उनको बरबाद करने वालों के साथ भी वे अच्छा ही करते हैं, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन उनसे प्यार करने वालों से वे कितना अधिक प्यार करते हैं, यह मुझे पता है। मुझे पेड़ों से बहुत प्यार है, उतना ही उनका परिचय भी है। देखते-देखते ही धूप उतर गई। हिमालय की नई आभा आई। हिमालय को देखने पर लगता है कि कड़ी धूप से भी ढलती धूप में हिमालय अति सुंदर लगता है। शाम ढलने से पहले ही हम सिलक्यारा पहुँच गए। नरेश ने रहने के लिए जगह ढूँढ़ ली थी। देवेंद्र खिचड़ी पका रहा था।

हिंदुस्तान की इस सीमा का और पश्चिम तिब्बत का घनिष्ठ संबंध रहा होगा। यहाँ लोगों की भाषा बदलती है, वेश बदलता है, रूप बदलता है। इतना ही नहीं, कुत्तों गायों के रूप भी बदलते हैं।

पुरुषों के शरीर पर घुटनों तक लंबा कुर्ता, सिर पर गोलाकार टोपी। स्त्रियों के शरीर पर नीली-काली रंग की बाराबंदी नाम का वस्त्र, सिर पर पगड़ी जैसा एक प्रकार का वेश देख सकते हैं। क्या यहाँ के लोग नहाते-वहाते हैं? भगवान को पता! शरीर के कपड़े धोने से स्वच्छ होते हैं, शायद इन्हें पता ही न हो! हर दिन स्नान न करने, कपड़े न धोने के कारण इन लोगों के सिर में जुएँ, कपड़ों में एक प्रकार के कीड़े दिखाई देते हैं। शाम होते ही पुरुष परस्पर शरीर पर के कीड़े नष्ट करने बैठ जाते हैं। उस दृश्य को देख ऐसा लगता है जैसे स्त्रियाँ जुएँ मारने बैठ गई हों। इसे देखने से एक प्रकार की घिन आती है।

इनका प्रधान व्यवसाय है खेती-बाड़ी। ये चावल, गेहूँ, आलू उगाते हैं। कभी-कभी समय मिलने पर दूसरों के यहाँ कुली का काम करने भी जाते हैं। स्त्रियाँ घर की देख-भाल करती हैं। वे खेतों में भी काम करती हैं। बाक़ी समय में स्वेटर बुनती हैं।

इनमें पैसों का लेन-देन बहुत कम होता है। आलू देकर गेहूँ लेना, गेहूँ देकर ऊनी कपड़े लेना। कभी न अंत होने वाली ग़रीबी। युवतियों को सुई और धागा मिलने पर वे इतनी ख़ुश होती हैं मानो सोना मिला हो। दिल्ली के कुछ मित्रों ने हमें माथे पर लगाने वाली बिंदी ले जाने के लिए कहा था। हम जहाँ जाते बिंदी बाँटते जाते। बिंदी पाने वाले शायद ख़ुद को भाग्यवान समझते होंगे—यह उनके मुख पर झलकने वाली ख़ुशी से मालूम होता था। ऐसी ग़रीबी देख हम पर शासन चलाने वाले प्रभुओं पर क्रोध उभर आता था।

अप्रबुद्धता भी ग़रीबी जितनी ही घोर होती है। समुद्र भी होता है, यह बताने पर भी वे विश्वास नहीं करेंगे। मैंने एक लड़की से समुद्र का वर्णन भी किया तो वह खो-खो कर हँसने लगी।

यहाँ के कुछ जातियों में द्रौपदी के समान एक स्त्री के पाँच पति होते हैं। गढ़वाल के जौनसार प्रदेश में यह द्रौपदी की परंपरा है, यह पता था। यहाँ भी ऐसी परंपरा है, पता नहीं था।

मानव-जाति में अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रीति-रिवाजों का चलन है। आज भी ये परंपराएँ रूढ़ियों में हैं। उनमें कौन-सी अच्छी है, कौन-सी अच्छी नहीं, कौन बताए! हर कोई अपने को सही साबित करते आया है। इतना ही नहीं, दूसरों के संप्रदाय उसको पाखंड दिखते हैं। हमारे धर्मानंद जी ने एक कथा लिखकर रखी है। मुझे उसकी याद आई। तिब्बत के गाँव में वे गए थे। वे जहाँ रहे, वहाँ एक ने उन्हें अपने भाई की कथा सुनाई थी। क्या बताऊँ, आपको वह तो पागलों जैसा करता है। कहता है, उसे एक दूसरी पत्नी चाहिए। मैंने कहा : मेरी पत्नी है, बस नहीं होती तुम्हें? तुम्हें दूसरी पत्नी क्यों चाहिए? कलियुग है, यह और कुछ नहीं। इस युग में हर एक में ऐसी बुरी बुद्धि ही होती है।

उस व्यक्ति को अपने छोटे भाई की दूसरी पत्नी की माँग ही ग़लत लगी। उसकी दृष्टि में वह अनाचार है।

संसार के कुछ जगहों में विवाह-योग्य कन्याओं को पहले राजा को अर्पित करने की प्रथा थी। नहीं तो वह अपने पति के घर जा नहीं सकती थी। ऐसी प्रथा को तोड़ने वाली लड़की को बुरी चलन वाली माना जाता था। कुछ स्थानों पर घर

आए रिश्तेदारों को अपनी पत्नी या बेटी को उनकी सेवा में छोड़ने की प्रथा थी। कुछ जगहों पर अपनी-अपनी पत्नियों को बदलकर अपनी मित्रता को मज़बूत बनाने की प्रथा है। ऐसे में अलग-अलग जगहों पर प्रचलित रीति-रिवाज, संप्रदायों को देखने की हमारी दृष्टि ही बदल जाती है। यहाँ भी द्रौपदी संप्रदाय कुछ जातियों में चलता है, जानने पर मुझमें उन स्त्रियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई।

केवल यहाँ की लड़कियाँ अप्सराओं से भी सुंदर, ऐसा क्यों? हवा से होगा। यहाँ की हवा स्वास्थ्य की रक्षा करती है, इसमें कोई शक नहीं। इतना ही नहीं, यहाँ की लड़कियाँ जी-तोड़ मेहनत करती हैं। इसलिए उनको भूख सताती है। उनका आहार गेहूँ है। इसलिए वहाँ की लड़कियों का यौवन चिरंतर होता है तो इसमें आश्चर्य क्या है!

मुझे यहाँ 'बॉब' नामक कनाडा का लड़का मिला था। हिंदुस्तान के आध्यात्मिक आकर्षण से यहाँ आया था। उत्तर काशी के पास के एक गाँव में वह रहता था। वहाँ की एक लड़की से उसका विवाह हुआ था। हम दोनों बातें करने लगे। थोड़ा परिचय बढ़ने पर मैंने उससे पूछा—"उस लड़की के साथ संसार कैसा चला है।" "अच्छा है। यहाँ की लड़कियाँ जीवनसाथी बनने के लिए अच्छी हैं। स्नेह-प्रेममयी। जान के लिए जान देती हैं।" उसके बाद ठंडी हँसी हँसते हुए बोला, "उसकी एक ही परेशानी, मुझे चूमने नहीं देती।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्यों?"

उसने हँसते-हँसते उत्तर दिया—"उसका धर्म जो भ्रष्ट होगा।"

यहाँ की कई लड़कियों की गर्दन में गाँठें बनी हुई दिखीं। दिनभर ऊपर चढ़ने-उतरने से शायद ऐसे गाँठें उठती होंगी। या कंठमाला जैसी बीमारी यहाँ फैली होगी। बॉब बोला, "थाइराइड की बीमारी है। उनको यहाँ चिकित्सा नहीं मिलती।" कुछ भी हो, उनमें कुछ कमी है, नहीं तो नज़र लग जाती थी।

सुमित्रा नामक एक लड़की हमें रास्ते में मिली। गोदुबाई ने ज़बरदस्ती कर उससे एक पहाड़ी गीत गवाया। उसका कंठ पर्वत के समान था। वह गीत की एक पंक्ति को ही बार-बार गा रही थी। गीत का अर्थ समझ में नहीं आया। लेकिन उसमें जो दर्द था वह दिल को छू गया। स्त्री के हृदय की तिलमिलाहट को देखकर मेरा हृदय भी दर्द से कराह उठा। दो-तीन साल बाद अमरीका के नीग्रो-वीर मार्टिन लूथर किंग के साथ मुंबई में तीन-चार दिन घूमने का भाग्य मुझे मिला था। उन दिनों रॉक्सी थियेटर में उनकी पत्नी श्रीमती कोरोंटा किंग के कंठ से अंग्रेज़ी में एक नीग्रो गीत सुना था। उस गीत की वेदना ने मेरे हृदय को घायल किया था। तब मुझे

हिमालय की सुमित्रा के पहाड़ी गीत की याद आई। उसका चित्र आँखों के सामने से गुज़र गया।

भगवान अर्थात् क्या? एक शक्ति। विद्युत भी एक शक्ति ही है। क्या भगवान भी विद्युत जैसी शक्ति है? मुझे लगता है, सौंदर्य के बारे में हर एक की दृष्टि जैसे अलग-अलग होती है वैसे भगवान के बारे में भी अलग-अलग कल्पनाएँ होती हैं। एस्थेटिक सेंस के जैसा डिवाइन सेंस भी अलग-अलग होते होंगे।

अगर भगवान शक्ति है तो वह विद्युत की तरह अंधशक्ति नहीं है। उसे बुद्धि है, हृदय है। ऐसा लगने वालों के लिए भगवान कैसा होगा, इसका अंदाज़ा वे लोग करने लगे। भगवान के रूप को आँखों के सामने लाते-लाते उसको अपना ही रूप दे दिया। उसमें अपने ही गुणों को देखा। फिर बाद में ऐसे ही क्रम से तैंतीस करोड़ देवताओं को जन्म दिया।

इतने पर ही उनका उत्साह कम नहीं हुआ। उन्होंने एक और दिशा में काम करना शुरू किया। जनसामान्य से भिन्न व्यक्तित्व, शक्तिवालों को देख अवतार पुरुष मानकर उनमें देवताओं के गुणों को भरा। इन लोगों ने देवता को मनुष्य के रूप में रूपायित किया। मानव को भगवान बनाकर प्रतिष्ठित किया। इसलिए उन्हें देवता रूप के मनुष्य अथवा मनुष्य के रूप के देवता में अपनी हृदय की वेदना को कहना आसान हो गया।

पर देवता को रूप देना जिसे नहीं आता वे अपनी हृदय की भावनाओं को कहाँ समर्पित करें? कहाँ भक्ति से माथा झुकाएँ? इस समस्या ने मेरी नींद उड़ा दी।

मुझे पता है, मानव के मन को बिना आकार के, सीमा से बढ़कर कल्पना करना नहीं आता। इसलिए मूर्तियाँ कभी ना नहीं होंगी। मूर्तियाँ न हों, ऐसी आवश्यकता भी नहीं है। इतने पर भी किसी मूर्ति ने अपने चरणारविंद में मेरी संपूर्ण भक्ति को स्वीकार नहीं किया है।... श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने मैं घंटों बैठा हूँ। बुद्ध की मूर्ति मुझे आकाश जितनी ऊँचाई पर ले गई है। ईसा मसीह की मूर्ति के सामने मेरा हृदय पिघल गया है। पर किसी मूर्ति ने मुझे 'भूमा' की कल्पना करने का आधार नहीं दिया। मुझे 'भूमा' का रूप केवल प्रकृति में दिखा। प्रकृति ही मुझे अपने चरणों में आकर्षित कर ले गई है।

मुझे याद आता है—उस दिन वृहस्पतिवार था। सुबह में हम सिलक्यारा से निकले थे। पहले एक बड़ा पर्वत ही आड़े आ गया। हृदय में उत्साह भरा था। हम ने पर्वत की चढ़ाई शुरू की। पहले लगा था कि चढ़ सकते हैं। पर एक मील चलने से ही मैं थक गया। पाँच मील चलने में छह घंटे लग गए। क़रीब ग्यारह बजे हम पर्वत-शिखर पर पहुँचे। ऊपर एक बड़ी शिला दिखी। थोड़ा विश्राम लेने के लिए उस पर बैठ गया। ज़ोर-ज़ोर से हाँफने लगा। आश्चर्य हुआ, इतना बड़ा पर्वत चढ़कर कैसे आया! मनुष्य कितना ही कमज़ोर क्यों न हो, दृढ़ संकल्प करे तो कितना भी बड़ा पर्वत हो, चढ़ सकता है। वह एक ही ग़लती करता है। चढ़ने से पूर्व ही ऊँचाई को गिनने लगता है और इस ऊँचाई को मैं चढ़ पाऊँगा या नहीं—इसका हिसाब करने लगता है। चढ़ने से पहले ही हाँफने लगता है। पर्वत कितना ऊँचा है, मैं चढ़ पाऊँगा या नहीं सोचने के बजाय चढ़ना शुरू करना चाहिए। साँस थोड़ी फूल सकती है। लेकिन ऊपर चढ़ने पर लगता है, यह पर्वत कितना छोटा है। इतने में लगा—इतना चलकर ऊपर आने पर यहाँ नहीं रुकना चाहिए, बैठना नहीं चाहिए। मैं आगे क़दम बढ़ाने लगा। एक-डेढ़ मील चला होऊँगा, इतने में एक जंगल मिला। इतना घना जंगल मैंने पहले कभी नहीं देखा था। ऐसा लगा—महाभारत के अठारह पर्व आँखों के सामने आकर खड़े हो गए। हृदय, सौंदर्य के आस्वाद के अनुभव से भर गया। *पुरुषसूक्त* की एक पंक्ति 'एतावानस्य महिमा अतोजायंश्च पुरुषः' होठों पर आ गया। जंगल को पारकर आगे गया। एक चिड़िया को बैठे देखा। हिमालय में चिड़ियाँ हैं, सुना था लेकिन देखा नहीं था। उठकर मैं उसे देखने लगा। रंग देखा। उसने मुझे देखा। टिंव टिवं गुनगुनाते, पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गई सुनहरे रंग की ऐसी चिड़िया मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। वह फुरऽऽकर कहाँ उड़ गई देखने के लिए ऊपर देखा। हरे-नीले रंग के पर्वतों की श्रेणी ही चौड़ाई में सो गई है। उसके पीछे चाँदी के मुकुट पहने चमचमाता गिरिराज हिमालय खड़ा है। दाहिनी ओर पाँच-छह हज़ार फ़ीट की खाई है। वहाँ चाँदी के शिखरों के बीच राह बनाती टेढ़ी-मेढ़ी यमुना नदी बहती है।

जमुनोत्री के उस शिखर को देख पैर मानो वहीं जम गए। खड़े होकर देखा। सपने में भी ऐसा सुंदर दृश्य देखा नहीं था। जिस स्थान को बड़े-बड़े ऋषि मुनि देखने के लिए छटपटाते हैं, वह यही हिमालय है। उन्नत तत्त्वों के संशोधन को स्फूर्ति देने वाला यही हिमालय है। पवित्र महादेव जैसा लगता है। उसके शरीर के हरे वृक्षों की छाया पार्वती जैसी लगी। कितनी सुंदर उसकी अंग भंगिमा! कितनी पवित्र! महादेव के निकट वह कितनी सुंदर लगती है। साक्षात उमा-महेश्वर ही

मेरे सामने आकर खड़े हैं, ऐसा आभास हुआ। वर्तमान की सभी सीमाएँ पिघल गईं, मैं अनंत में विचरने लगा। इन सुंदर दृश्यों से होने वाली ख़ुशी को सँजोने के लिए छटपटाने लगा। इस सौंदर्य के आकर्षण को अपना बनाने की मेरी आशा मचलने लगी। ख़ुद को उसके चरण-कमलों में अर्पित करने की चाह हुई। मैं अपने अंदर के 'शिक्षित' मनुष्य के शिष्टाचार को भूलकर मुग्ध मानव की तरह सामने दिखने वाले उमा-महेश्वर को घूम-घूमकर नमस्कार करने लगा।

भूमानंद भी होता है, मुझे उसी दिन अनुभव हुआ। मुझे यह भूमानंद अपने अंक में ले गया। मैं सोचने लगा :

प्रकृति को निर्जीव मानना ग़लत है। अगर वह निर्जीव होती तो कभी इतनी सुंदर नहीं लगती। उसमें जीवन है। अनेक युग बीत गए, पर उसके स्वप्रदर्शन की चेतना-यात्रा चलती ही आ रही है। धुएँ की तरह बिना आकार के चित्र तक इसी यात्रा से पहुँचे हैं। लेकिन न यह यात्रा रुकी है, न इसकी गति उतरी है। यदि वह रुकती अथवा उसकी गति उतरी होती तो आँखों के सामने दिखाई देनी वाली दुनिया, यह ज़िंदगी बिखर गई होती और कूड़े के ढेर की तरह एक ओर गिर गई होती। प्रकृति का स्वप्रदर्शन चल रहा है, इसलिए यह संसार स्थिर होकर खड़ा है। प्रकृति सुंदर क्यों है? वह क्षण-क्षण मरती है और जन्म लेती है, इसलिए। उसके अणु-अणु में प्रक्रिया चलती रहती है। प्रकृति की यह रुद्रलीला भय को भी डरानेवाली होने पर भी शांत है।

भरी गर्मी में ठंडी हवा के झोंके के शरीर को छूने से जैसे पूरा शरीर ख़ुशी से झूम उठता है वैसे शरीर रोमांचित हो गया। प्रकृति के सौंदर्य की नींव आज मेरी आँखों को दिखाई दी। इसलिए लगा, जैसे सच मेरी ओर भागकर आ रहा है। अनजाने में ही मेरे होठों से शब्द निकले—'मरण मिथ्या निर्माण सत्य।'

जब मनुष्य को सत्य सुंदर दिखता है तो सुंदर सत्य होता है। 'योगियां दुर्लभ तो म्यां देखिला साजणी' नामक ज्ञानेश्वर का अभंग है। योगी देवता को देखने का प्रयत्न करता है, आँख मूँदकर ध्यान के लिए बैठता है। पर भगवान दिखता नहीं। तरह-तरह की शंकाएँ मन में उत्पन्न हों, उसके ध्यान को भंग करती हैं। योगी को लगा कि भगवान को खोजने की यह राह ठीक नहीं है। भगवान इतनी आसानी से नहीं मिलेगा। उसने इस मार्ग को छोड़कर संसार में भगवान को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। वहाँ भगवान उसे दिखा। इतना ही नहीं, वहाँ उसने भगवान को 'अनंत वेषें, अनंत रूपें' में देखा। उसके बाद 'देखिला-देखिला माये देवाचो देवो' कहकर उनका हृदय ख़ुशी से नाच उठा। 'संदेह दूर हुआ' कहकर मन विचार करने लगा।

मुझे भी ऐसा ही हुआ... पैर शीघ्रता से बढ़ने लगे। विचार के गति के साथ पैरों का संबंध होना ही चाहिए...।

हाँ, पैरों के चलने के साथ-साथ दिमाग़ भी चलते रहता है—यह अनुभव मुझे था। सोचते-सोचते गहराई में उतरने पर बुद्ध आसन से उठ 'चंक्रमण' क्यों करते थे; यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ क्यों घूमते थे—यह मुझे अब मालूम हुआ।

हमारा हर सुबह चार-साढ़े चार बजे उठने का क्रम, अँधेरा रहते ही सफ़र शुरू करना, दोपहर तक चलना, राह में कहीं खाना बनाकर खा लेना। एक घंटा विश्राम कर फिर चलना शुरू करना। शाम होने तक चलते रहना। दो-तीन दिनों में मैं तारीख़ और दिन भूल गया। कल-परसों तक जीने की राह कुछ और ही थी—यह भी भूल गया लगा। चलने के लिए ही पैदा हुआ हूँ।

बाधाओं के लिए आदि-अंत नहीं है। खाने में नमक के समान सफ़र में बाधाएँ होती हैं। नहीं तो सफ़र फीका पड़ जाता है। इतना ही नहीं, अलग-अलग स्थानों को देखने का उत्साह था। पैरों को चलने की रफ़्तार भी मिली थी। आँखें चारों ओर घूम रही थीं। आस-पास की सृष्टि नीलिमा से भरी थी। मैं कह रहा था—''नीलिमा-युक्त व्योम, नीलिमा मय यह प्रेम, नीलिमा से आक्रामित नीलप्रभा दिखेगी, चारों ओर नीलिमा ने ही घर कर लिया, नीला आकाश खो गया है।

हम गंगोत्री के हिमशिखर को आगे रखकर चल रहे थे। गंगाणी के बाद सना धर्मशाला आई।

शाम हुई थी। धर्मशाला यात्रियों से भर गई थी। एक भी कमरा ख़ाली नहीं था। उन यात्रियों में कुछ गंगोत्री से वापस आए थे। कुछ हमारे जैसे गंगोत्री जानेवाले थे। कुछ जमुनोत्री जाने के लिए आए थे, पर आगे चलने में थक जाने से वहीं रुके थे। जमुनोत्री देखकर आए यात्री, देखने जानेवालों को राह में आने वाली बाधाओं, सुख-दुःखों को बड़े उत्साह के साथ विस्तार से बता रहे थे। चलने से थककर जो वापस आए थे वे 'हाँ जी हाँ' कहकर बताने वालों के उत्साह को बढ़ा रहे थे। इस सबको सुनने वाले, आगे जानेवाले 'हमारा क्या होगा' इस चिंता में उसाँस छोड़ रहे थे, परस्पर मुँह ताक रहे थे। इसमें से कुछ बातें मेरे कानों में भी पड़ीं। लेकिन...

मुझे एक कहानी याद आई। एक बकरी का बच्चा दशहरे से पहले अपनी माँ से पूछता है—''दीपावली कब है माँ?'' माँ कहती है—''बेटा, कल दशहरा है। जीवित रहेंगे तो ही दीपावली के बारे में सोचेंगे।''

जमुनोत्री जाने की परेशानी के बारे में कल सोचेंगे। अब पहले सोने की व्यवस्था कहाँ होगी, देख लेना चाहिए। धर्मशाला में एक भी कमरा ख़ाली नहीं है। नज़दीक कोई मकान भी दिखाई नहीं दिखाई दे रहा है। कहीं जगह नहीं मिलने पर बाहर पेड़ के नीचे सोना पेड़गा। 'करतल भिक्षा तरुतल वास' के समान सफ़र के सुख का अनुभव कर सकते हैं। लेकिन रात में बर्फ़ गिरे तो क्या करें! जहाँ हम सोए हैं वहीं ठंडे न होंगे—यह कौन कह सकता है? बिछौने को बिछाने का काम नरेश कर रहा था। दरी को बग़ल में दबाकर स्थान ढूँढ़ने लगा। एक चीड़ के वृक्ष के नीचे कुछ साधु लकड़ी जलाकर बैठे थे। जो जगह है उसमें उसी स्थान को योग्य मान उसने दरी वहीं बिछा दी। हम तकिया-कंबल लेकर वहाँ निकले ही थे कि एक संन्यासी के हृदय में भगवान जाग उठा। हमारी कठिनाई को देख अपने बिछौने को बग़ल में दबाए एक संन्यासी ने अपने साथ सोए साथियों को जगाकर "चलिए इन लोगों को यह कमरा दे देंगे" कहा, "आप आराम से कमरे में सो जाइए, हमें बाहर खुले में सोने की आदत है," कहकर उसने कमरा हमें दिया और सब बाहर चले गए। हम सबने आपस में काम बाँट लिए। नरेश का काम बिछौने बिछाना। देवेंद्र का काम चूल्हा बनाना। गोदु का काम खाना बनाना। करंदीकर का काम रोटी बनाने में मदद करना था। मेरा काम अत्यंत कठिन था (मुझसे अभी भी न होने वाला)—हिसाब रखने का काम। कमरा मिलने पर नरेश ने बिछौना बिछाया, बाक़ी अपने कामों में लग गए। मैं हिसाब लिखने के अपने काम में मगन हो गया था। उतने में हमें अपना कमरा छोड़कर देने वाले संन्यासी यहाँ—मैं और नरेश बैठे थे वहाँ—आकर मराठी में पूछने लगे—"आप महाराष्ट्र से आए हैं क्या?"

"जी हाँ।"

"जमुनोत्री जाएँगे।"

"इसीलिए यहाँ तक आए हैं।"

वे हाथ जोड़कर हमसे कहने लगे—"सुनिए, आप मुझसे उम्र में छोटे हैं, और हमारे शरीर पर केसरिया रंग के ये वस्त्र हैं। फिर भी मैं आपसे हाथ जोड़कर विनती करता हूँ। आप जमुनोत्री जाने की इच्छा छोड़ दीजिए। वह राह बहुत सारी कठिनाइयों से भरी है। उस राह पर चलना आपसे नहीं हो पाएगा। उस राह में पर्वत के पर्वत ढह जाते हैं। मैं कल ही जाकर आया हूँ। कैसे वहाँ पहुँचा और वापस आया, मुझे ही पता नहीं चला। मेरी हड्डियाँ आपसे मज़बूत हैं। पर पैर देखिए कैसे काँप रहे हैं।"

क्या करना चाहिए, सूझा ही नहीं। लगा—इस संन्यासी के मुँह से भगवान ही बोल रहे हैं। उनकी बातों को शांति से सुना। यहीं से लौट जाना उचित लगा। मैं नरेश के मुख को देखने लगा। संन्यासी के मुख को भी देखा। कुछ क्षण मौन। इतने में दिल से एक आवाज़ निकली। वह मुझे जमुनोत्री बुला रही थी। मैंने उस आवाज़ को दबाने की कोशिश की। ''इस संन्यासी के मुख से भगवान ही बोल रहा है, सुनो'' कहा। फिर भी नहीं सुना। मुझे यह आवाज़ उस संन्यासी के डाले गए भय से भी भारी लगी। मैंने संन्यासी से कहा—''जमुनोत्री के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों, बाधाओं की कथा हम ऋषिकेश से यहाँ तक सुनते आए हैं। फिर भी एक 'पुकार' हमें यहाँ तक खींच लाई है। यहाँ तक आने में हमें क्या कम बाधाएँ आई हैं? उनका सामना करने की शक्ति हममें कहाँ थी! फिर भी हम यहाँ तक आ पहुँचे हैं। आगे जाकर देखते हैं। होगा तो आगे जाएँगे वरना, 'आने का कोई फ़ायदा नहीं हुआ' कहकर वापस आएँगे। इस राह पर हमसे चलना नहीं होगा, यह अभी से कैसे कहें! अनुभव कर देखेंगे...।''

संन्यासी ने तुरंत कहा—''अगर ऐसा है तो आप भगवान का ध्यान करते हुए आगे बढ़िए...जमुनोत्री पहुँचेंगे...आपको मेरा आशीर्वाद है।''

हम दूसरे ही दिन सना धर्मशाला से बाहर निकले। यमुना की बाईं ओर के एक भयानक पहाड़ से राह निकलती थी। हम पहाड़ चढ़ने लगे। ऊपर जाकर देखा तो वहाँ एक और पर्वत शुरू होता था। उसे भी चढ़ने लगे। उसके आगे और एक पहाड़, पहाड़ पर पहाड़ ख़त्म ही नहीं होते। उन्हें हमसे कोई सहानुभूति नहीं थी, दया नहीं थी। यह राह हमें सत्याग्रह का पाठ पढ़ाने वाली राह-सी लगी। बहुत कठिन। केवल एक ही क़दम रखकर चलने वाली छोटी राह। कितने पहाड़ चढ़कर उतरे, हिसाब नहीं। चीड़ के वृक्ष पीछे छूट गए, देवदार वृक्ष की पंक्ति शुरू हो गई। उतने में अखरोट के, बादाम के घने जंगल में भटक गए। जंगल इतना घना था कि दोपहर में भी सूर्य की किरणें जंगल में प्रवेश करने से डरती थीं। गुजराती प्राथमिक शिक्षा पाते समय गुरुजी ने मुझे एक कविता सिखाई थी। 'भोमिया विना मारे भमवा ता डुंगरा' नामक कविता। कवि को जंगल में घूमने का मन करता है, पर कैसे? किसी को साथ नहीं ले जाना है। रास्ता जानने वाले किसी को न ले जाते हुए, अकेले ही जाने की इच्छा होती है। वहाँ पेड़ों से मिलकर उनका सुख-दुःख पूछना, एक-एक लता से बोलना, गुफाओं को देखना, पत्थरों को तोड़कर बाहर

आने वाले झरने के आँसू पोंछना उसका लक्ष्य था। उन दिनों मेरी आँखों के सामने जो घना जंगल था, वह यही था। हिमालय में बाघ, शेर, हाथी, घोड़े होंगे—ऐसा संदेह हुआ।

मैंने इन प्रश्नों का उत्तर दिया। प्राय: ये जानवर अब मुंबई, कलकत्ता आदि शहरों में कारख़ाने आदि चला रहे होंगे। हमारे कुली को हमारी शंका का पता चला होगा। उसने कहा—''यहाँ भालुओं की परेशानी है।''

मैंने पूछा—''भालू मिलें तो क्या करेंगे।''

उसने कहा—''मुँह पर पट्टी बाँधकर मृत शरीर के जैसा मुँह ऊपर करके आँख मूँदकर सोना है।''

कहते हैं, भालू नज़दीक आकर पहले आगे के पैर से आँख को छेदता है। फिर उसके मुख को नोंचता है।

बचपन में पढ़ी हुई एक कथा याद आई। उस कथा में दो लोग ऐसी युक्ति से ही बच निकले थे।

देखते-देखते जंगल और घना हो गया। जंगल में अँधेरा हो गया। जंगल के कीड़े-मकोड़ों की आवाज़ सुनाई देती थी। पैरों के नीचे सूखे पत्ते गिरे थे। पैर फिसलते थे। पेड़ों के तनों और लताओं को पकड़कर हम आगे बढ़ने लगे। इतना होने पर भी हम क्यों नहीं फिसले। सूखे पत्तों में दौड़ने वाले साँपों ने क्यों नहीं डँसा भगवान ही जानें। अँधेरा ढलता नहीं, रास्ता ख़त्म नहीं होता। सही रास्ता दिखाई नहीं देता। हम फिर भी चल रहे थे—हाथ की छड़ी, हृदय में भरा उत्साह ही आगे जाने की प्रेरणा देते। इसी धैर्य के साथ हम क़दम बढ़ा रहे थे।

धीरे-धीरे हमारा उत्साह कम हो गया। हमें लगा, यह रात कभी मिटेगी नहीं। सही रास्ता मिलने के आसार भी नहीं थे। क्या हम रास्ता भटक गए? मैं निराश हुआ, डर गया। उतने में सुबह के शुक्र की चाँदनी का दिखना, अंग-अंग में कंपन होना, आँखें कमज़ोर होना, हृदय में आशा की किरणों का जागना। उस घने अँधेरे में प्रकाश की किरण के आने से हम और तेज़ चलने लगे। जंगल से बाहर आए और 'भगवान' मेरे मुँह से शब्द निकला।

एक भयानक पहाड़ जड़-सहित नीचे गिरा था। वह धूल-धूसरित हो गया है। वही धूल हर तरफ़ फैल गई है। जमुनोत्री जाने वाले रास्ते बंद हो गए हैं। भूकंप हो गया होगा, ऐसा भयानक दृश्य था। दाहिनी ओर की पहाड़ी देखी। उसमें दरार आई थी। वह भी लुढ़ककर गिरने की स्थिति में थी। मेरा आत्मविश्वास कम हो गया। आगे पैर बढ़ाकर रख नहीं पाया। सना धर्मशाला में मिले संन्यासी की बातें

याद आईं। ''इस राह में जाना आपसे हो नहीं पाएगा।'' ये बातें कानों में गूँजने लगीं। मन में ही कहा—''अधिक साहस करना ठीक नहीं है। यहीं से लौट जाना उचित होगा। जो देखा काफ़ी है। अब लौटना ही ठीक है।''

सिर उठाकर देखा। लगा जमुनोत्री का शिखर आ...आ...कर बुला रहा है। बाईं ओर की काई से भी उसी प्रकार क्री आवाज़ आ रही—ऐसा लगा। भगवान को याद करते हुए क़दम आगे बढ़ाया। एक पत्थर पर खड़े होकर आगे के पत्थर पर पैर रखने की कोशिश कर रहा था। इतने में बायें पैर के नीचे का पत्थर फिसला। नए पत्थर पर पाँव रखा, वही स्थिति। ऐसे एक-एक क़दम आगे रखता गया। एक नहर में पानी बह रहा था। उस नहर को पार करना आसान नहीं था। दोनों किनारों के पत्थर पर एक तख़्त को आड़ा रखा था। उस पर पैर रखने से पहले एक बड़े पत्थर को उठाकर पानी के बहाव में फेंक दिया—दो सेकेंड में वह चूर-चूर होकर पानी में बह गया। मुझे उस नहर का रुद्ररूप समझ में आ गया। ''भगवान तुम्हारा ही आसारा'' कहते हुए हाथ की छड़ी को मुँह में रख लिया, आँखें बंदकर लीं, दोनों हाथों को पैरों जैसे रखते हुए उस तख़्ते को पकड़कर उस किनारे पहुँचा। देवेंद्र और नरेश पहले ही पारकर उस ओर खड़े थे। मेरे पीछे करंदीकर आए। गोदु का संकट मुझसे देखा नहीं गया। ज्यों-त्यों कर नहर पार कर गई। आगे एक भयानक पहाड़ खड़ा था। उसे चढ़ना था। पाँव थर-थर काँप रहे थे। पर ऐसे बड़े संकट में से पार होकर आए थे। हममें साहस आया था। पहाड़ चढ़ने लगे। शाम होने से पहले फूलछत्र आया।

जमुनोत्री वहाँ से पाँच मील दूर थी।

मुझे उस दिन नींद ही नहीं आई। नरेश भी करवट बदल रहा था।

मैंने पूछा—''नरेश नींद नहीं आई?''

''नहीं।''

''तो हम दोनों थोड़ी देर बाहर जाकर बैठेंगे''—मैंने कहा।

हम बाहर गए।

हमारे पीछे गोदु आ गई।

चाँद अभी ऊपर आया था। चाँद के साथ नक्षत्र भी निकल आए थे। लेकिन सती (गृहिणी) के समान कुछ अंतर छोड़कर चल रहे थे। स्वाति दोनों की तरफ़ कुतूहल के साथ देख रही थी। हस्त में एक नक्षत्र शरमा रहा था। चंद्रमा इस ओर

धरती पर झेन चित्रकार की तरह जितना चाहिए उतना ही दिख रहा था। बाक़ी का भाग छिप गया था। एक विशिष्ट आभा से परिवेश सुंदर लग रहा था।

नरेश ने कहा—"तुम्हें *इशोपनिषद्* कंठस्थ है न? सुनाओ उसे..."

मैं बताने लगा। एक-एक श्लोक को भरे मन से कहा। अंत में शक्ति-पाठ के पास जब आए 'वह पूर्ण यह पूर्ण' नामक मंत्र एक रूप लेकर मेरे सामने खड़ा हुआ। वह पूर्ण कहने में 'यह' आने के कारण यह पूर्ण। माँ से बच्चा आया। माता भी पूर्ण, बच्चा भी पूर्ण—जैसे यह अर्थ सूझने के कारण मेरा मन शांत हुआ।

बातचीत नहीं थी। उपनिषद के श्लोकों के साथ चाँदनी में हम नहा रहे थे। अचानक आँखें पर्वतों को देखने लगीं। एक-दो पल देखा होगा। वे सब छाया की तरह लगने लगे। पल-पल आकार बदलते हैं। भाप के समान पिघलते हैं। बादलों के जैसा अलग-अलग रूप बनाकर उड़ते जैसा लगे।

मुझे उस श्लोक के 'वह' (वह में यह भी मिला है) सब तरफ़ फैला है, ऐसा लगा। फैला हुआ जैसा ऊपर उठा हो, वह अपनी पूरी चेतना से दौड़ रहा हो, ऐसा लगा। अचानक मेरे कानों में 'ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिद्म' श्लोक सुनाई दिया। देवदार के वृक्ष गाने लगे। ऊपर आसमान में सप्तऋषि भी आवाज़ मिलाकर गा रहे थे। मुझे कवि होना चाहिए था। कोंकणी के लिए एक महाकाव्य देता।

'हिमालय अर्थात् भव्यता का आगर' ऐसा मुझसे काका साहब ने कहा था। पर जमुनोत्री की भव्यता अर्थात् सच में भव्यता को ही आश्चर्य में डालने वाली, और दाँतों तले ऊँगली दबाने से 'अरे' कहकर उद्‌गार निकालने वाली।

अभी केवल पाँच मील था। हम रोज़ से भी कुछ देर से निकले। कारण, चलना थोड़ा ही था। और एक बात थी—रात में जो जागरण किया था उसका हिसाब चुकाना था। मैं भूख बर्दाश्त कर सकता हूँ, पर नींद से मैं डरता हूँ।

रोज़ की तरह रास्ता पहाड़ पर से ही निकलता था। हम इतने ऊपर आए थे कि वहाँ से यमुना पाताल में बह रही है, ऐसे दिखती थी। एक-एक क़दम आगे बढ़ाना आँखों का विस्तार बढ़ना। अभी-अभी देखा हुआ दृश्य फिर ऊपर चढ़ने पर और भी विशाल दिखता। इतने दिन हमारे साथी बने हिमशिखर क़दम-क़दम पर बढ़ते जाते थे। वे इतने बढ़ रहे थे कि जमुनोत्री पहुँचने तक आधे आकाश को निगल गए थे। उनके सिर के हिम का रंग भी बदल गया। वह सुनहरा हो गया। यहाँ मुझे पता चला—शब्दों की भी सीमा होती है। अनुभव को व्यक्त करना, शब्दों

का काम नहीं। गहरे अनुभव को शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। बुद्ध को भगवान के बारे में अनुभव हुआ। उसने भगवान को देखा था, पर उसे अनुभव को बताना नहीं आया। 'यह तो अकथ कथा है, कहते कही न जाए।' उसने भगवान के बारे में न बोलने का निर्णय किया था। हमारे छोटे से मापदंड से मापते हुए 'बुद्ध भगवान को नहीं मानते थे...बुद्ध नास्तिक थे', कहने लगे।

मेरी स्थिति भी वही हो गई। इतने दिन मैं हिमालय के बहुत सारे रूपों को देखते आया था। कुछ रूप तो सुंदरता से भी ऊँचे थे, ऐसा लगा। कुछ तो डर को भी डरानेवाले रूप थे। पर जमुनोत्री के रूप को नाम देना कठिन हो गया। 'हर-गौरी का मिलन' शब्दों को सुना था, पढ़ा था, यहाँ उन शब्दों को सजीव होते हुए देखा। मैं हर-गौरी को आँखों से देख रहा था। प्रकृति के अचरज का कोई अंत नहीं था। हिमशिखर का हिम पिघलकर एक झरना बनकर दो बड़े पहाड़ों के संकीर्ण भाग में बह रहा था। पल में पानी का जम जाना। उसे बर्फ़ बनते देखना। देखते-देखते पिघलकर पानी होना। एक बूँद पानी शरीर को लगे तो स्पर्शानुभव खोने वाले शीत प्रदेश में ही निसर्ग ने उबलने वाले पानी का प्रपात का निर्माण भी किया है। वह भाप के साथ एक फ़ीट ऊपर तक उछलता है। उसकी एक बूँद भी शरीर पर उछले तो फोड़ा निकलने जितना गरम प्रपात है वह। जमुनोत्री के जन्म के साथ ही 'फक फुक-छुक छुक' कह यह प्रपात बहता रहता है। उसकी गरमी न ज़्यादा होती है न कम। आठ महीने गंगोत्री में बर्फ़ गिरती है। उसमें जमुनोत्री डूबी है। पर इस उष्ण प्रपात की ओर आने का साहस उसे नहीं होता। गर्मी और शीत के बीच का यह युद्ध देख मुग्ध हिंदुओं ने एक समझ पाल रखी है। वह क्या? लंका को जलाकर राख होने पर हनुमान यहाँ आए। उसे वहाँ एक पवित्र गड्ढा दिखा। उसमें उसने अपनी पूँछ डूबो दी। उस दिन से इस पवित्र गड्ढा में पानी उबलते रहता है। निसर्ग के नियम को आप कितना भी समझिए, यहाँ नियमों के बग़ैर कुछ नहीं कहो, फिर भी प्रकृति के इस चमत्कार के सामने यहाँ भक्ति से भरा खड़ा है। इस विस्मयकारी शक्ति के सामने सिर झुका दिया।

एक पत्थर पर बैठकर आँखें खोल ध्यान कर रहा था। आज हिमालय रुद्ररूप में खड़ा था। भयंकर, पर उतना ही मनमोहक। बहुत समय से बर्फ़ को ओढ़कर बैठे हिमशिखर गगन को भेदकर बाहर आएँगे, ऐसा भास हो रहा था। मेरी नज़र यमुना के स्रोत की ओर गई। पाषाण से भी मज़बूत पत्थर तोड़कर आया यह स्रोत

'धो...धो' कर गिरता है, बहता है। बहते-बहते अपने साथ बड़े-बड़े पर्वतों को नदी बहाकर ले जाती है। काल-पुरुष का अवतार। इसे देखने से डर लगता है। शरीर थरथराता है। आश्चर्य होता है, आनंद भी होता है।

मेरी जिह्वा पर हमारे आश्रम की सुबह की प्रार्थना का एक श्लोक आ गया।

भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियंतृ त्वम एकम्
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥

हमारे बुज़ुर्गों को तपस्या कहते ही हिमालय की याद क्यों आती थी? तपस्या पर बैठने वाले के सामने बड़े में बड़ा, विस्तार में विस्तार, उन्नत, भव्य ऐसा कुछ रहना ही चाहिए। हिमालय जितना बड़ा, विशाल, उन्नत, भव्य दूसरा कुछ नहीं था। हो सकता है। पर तपस्या और हिमालय का संबंध इतना ही नहीं। देखो यहाँ...हिमशिखर। इस हिमशिखर से एक झरना निकला है। उससे आगे स्रोत, नाले सब मिलते नदी बन जाते हैं। यह नदी बड़े-बड़े जंगलों को पालती है। इस नदी के किनारे रहने वाले वृक्षों में पंछी, जंगलों में जानवर रहते हैं। यहाँ संस्कृतियाँ पैदा होती हैं, बढ़ती हैं।

यह सब हिमशिखर से होता है। पर यह हिमशिखर इन सबसे अलिप्त रहता है। उसके शरीर पर एक भी हरा पत्ता दिखाई नहीं देता, एक जीव भी नहीं खेलता, संपूर्ण निर्जन, निर्जीव नग्न...मैदान दिखता है।

हमें जीवन की सभी ख़ुशियाँ प्रदान करने वाले सभी तत्वज्ञ, शास्त्रज्ञ, कलावंत, संगीतकार, देशभक्त सभी हिमशिखर जैसे ही हैं न? हमें संतोष देने के लिए अपने सुखोपभोग पर तर्पण छोड़, भोग की वस्तुओं को दूसरों के लिए निर्माण करने वाले, पर ख़ुद इस भोगानुभव से निर्लिप्त होने वाले।

तपस्या करने जाने वाले का जीवन रूक्ष होता है, सच है। उससे संसार चलता है। ''इतने का ही आस्वाद लो, उतने को ही भोगो'', कहना उन कुछ तपस्वियों के ही कारण न? ऐसे तपस्वी न होते तो हमारा जीवन निस्सत्व, निर्जीव, खोखला होता।

मन गोवा चला गया। आग्वा के जेल के कुछ दोस्तों की याद आई। इन लोगों के जेल में रहने के कारण ही हमें स्वातंत्र्य का आस्वाद मिला। उनकी तपस्या से ही हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ।

जब इन सबका ख़याल आता है तो तपस्या का रूक्ष जीवन का आकर्षण बढ़ जाता है।

जमुनोत्री मतलब यमुना नदी का उद्‌गम स्थान। वहाँ एक छोटा-सा मंदिर है। एकदम सामान्य-सा। कोई दस्तकारी नहीं। फिर भी वह बहुत सुंदर लगता है। लोग कितनी भी कलाकारी यहाँ लाकर डालें, निसर्ग के सौंदर्य के आगे वह निर्जीव ही होता था। सच में, यहाँ मंदिर की ज़रूरत ही नहीं थी। यहाँ मानव को अपनी योग्यता की सीमा को पहचानकर रहते देख ख़ुशी हुई।

तीर्थक्षेत्र पहुँचने पर स्नान, पान, दान करना चाहिए, ऐसा शास्त्र में कहा गया है। यहाँ स्नान नहीं कर सकते थे। स्नान करने निकलेंगे तो वहीं जम जाएँगे। हमने यमुना की एक बूँद जिह्वा पर रख 'पान' किया। साथ में चावल, दाल, आलू ले गए थे। उसे एक सूती कपड़े में बाँधकर, हनुमान के पूँछ डूबाए कुंड (पवित्र गड्ढा) में छोड़ कुछ देर बैठ गए। पंद्रह मिनट में 'प्रसाद' तैयार हो गया।

हमें याद है यहाँ एक साधु मिला था। वह अल्मोड़ा का था। युवक, हृष्टपुष्ट था। सामवेद को मधुर कंठ से कहता था। सामान्यतः ये साधु लोग किसी एक श्लोक में अथवा पुराण के किसी एक कथा में जीवन को देखते हैं। पर इसने ग़रीबों के सुख-दुःख में और संघर्ष में जीवन को देखा था। हमने उसे 'प्रसाद' (दान का एक प्रकार)स्वीकारने के लिए बुलाया । बहुत सारी बातें भी कीं। हम वर्धा में थे, यह सुनकर हमारी तरफ़ अधिक आकर्षित हुआ। उसने भी वर्धा में रहकर विनोबा, काका साहब कालेलकर, किशोरीलाल भाई के साथ वार्तालाप किया था। हिंदू धर्म के प्रति उसमें अपार ज्ञान था। उसने हमें हिंदू धर्म की कुछ विशेषताएँ बताई थीं। वह अब भी मेरे मन में घर कर गई हैं। उसने कहा था :

''हिंदू धर्म का प्राण उसके वेदांत में है। उसकी सुगंध भक्ति-मार्ग में देख सकते हैं। विज्ञान कर्म मीमांसा में दिखता है। हिंदू धर्म ने संसार को एक संदेश दिया है—'सभी धर्म अच्छे हैं, सच्चे हैं।' हिंदू धर्म का एक मर्मस्थान भी है। हिंदू धर्म ने काले, सफ़ेद, पीले आदि सभी रंग के लोगों को एक साथ किया था। एक-दूसरे को घुलने-मिलने दिया था। एक ही समाज में इतने आशायुक्त, इतने सारे प्रकार के लोग कहीं देखने को नहीं मिलते। केवल सभी को एकत्रित ही नहीं किया बल्कि उसमें से एक समाजशास्त्र की रचना भी हुई।''

एक क्षण मौन रह उसने अपनी बात आगे बढ़ाई—''इस समाजशास्त्र में आगे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह मज़बूत हुआ। इतना ही नहीं, वह हिंदू धर्म विरोधी भी हो गया। इसलिए यदि हिंदू धर्म को जीवित रखना है तो उसके समाजशास्त्र

को बदलने की ज़रूरत है। नहीं तो उसे म्यूज़ियम पीस बनकर रहने के लिए तैयार रहना पड़ेगा...।''

यह साधु इतनी गहराई में जाकर सोचेगा, ऐसा नहीं लगा था। उसके बाद वह कुछ दिन हमारे साथ था। सिंघोटी की चढ़ाई को हम साथ ही चढ़े थे। राह में कहीं उसने हमें पीछे छोड़ दिया। बाद में वह कहीं नज़र नहीं आया। हिमालय की पूरी यात्रा में मेरी आँखें उसे ढूँढ़ती रहीं।

दोपहर की ढलती धूप में हम जमुनोत्री से लौटने लगे। जमुनोत्री से निकलते समय मेरा मन ख़ुशी से नाच रहा था। यह निसर्ग के रुद्ररमणीय दृश्य देखने की ख़ुशी थी। ''आपसे यह यात्रा पूरी नहीं होगी, पूरी नहीं होगी''—कहकर कुछ लोग डरा रहे थे। उस यात्रा को हमने पूरा किया, यह समाधान था।

अब हमारे पैर गंगोत्री की यात्रा में आत्मविश्वास से चलने लगे।

जमुनोत्री से गंगोत्री को जाने के लिए दो रास्ते हैं। एक छाया-मार्ग नामक रास्ता है। वह जमुनोत्री के मूल से निकला रास्ता है। और दूसरा है गंगाणिक, फिर से सिंघोटीय पर्वत पारकर निकलने वाला रास्ता। छाया-मार्ग से जाने का साहस केवल रामतीर्थ जी को था। वैसा खुरदरा साहस हम में कहाँ है! हम मौन होकर गंगाणिक रास्ते से जाने लगे।

गंगाणिक पहुँचने में दो दिन लगे। आने वाले रास्ते से ही लौटने के कारण परिचित दृश्यों को फिर एक बार देखने का अवसर मिला। वही दृश्य लौटकर आते समय देखने से एक और प्रकार का संतोष देते हैं, यह पता चला। उस दिन से मैंने एक नियम बना लिया—'कहीं पर भी जाऊँ, चलते-चलते एक ओर खड़ा होकर पीछे नज़र दौड़ाऊँगा। नए दृश्यों को देखने का संतोष मिलेगा।'

इस बार अल्मोड़ा के एक साधु का साथ मिला था। रास्ते में जाते समय हममें से एक ने उससे पूछा—''यमुना के उद्गम स्थान को सबसे पहले किसने ढूँढ़ निकाला?''

''असित ऋषिजी ने''—उसने उत्तर दिया।

मैं सोचने लगा। उसे यहाँ कौन खींचकर लाया था? वह किस प्रेरणा से, किस खोज के लिए यहाँ आया था? अथवा नदी के मूल को खोजने का उत्साह सबमें होता है क्या? मैं मन में ही असित ऋषि का चित्र खींचने लगा। गंगाणिक पहुँचने पर नरेश ने यामुन ऋषि की कथा सुनाई। 'यामुन गंगाणिक यमुना के तट

पर रहता था। पर यमुना के साथ गंगा की भी भक्ति करता था। गंगाणिक से हर दिन उठकर पंद्रह-बीस मील चलकर गंगा दर्शन के लिए जाता था। उस पानी में स्नान कर फिर गंगाणिक को लौटकर आता था। शरीर में ताक़त रहने तक वह नियमित रूप से यात्रा करता था। वह बूढ़ा हो गया। पंद्रह-बीस मील चल नहीं पाता था। वह यमुना के किनारे बैठकर गंगा की याद करने लगा। आँसू बहाता था। एक दिन गंगा का हृदय पिघल गया। वह ऋषि के आश्रम के समीप झरने रूप में अवतरित होकर ऋषि से मिली।

एक रात हमने इस झरने के पास बैठकर कितनी ही कहानियाँ सुनीं।

गंगाणिक से एक-डेढ़ मील चल के सिमलि नामक गाँव जाकर सिंघोटि की चढ़ाई चढ़ने लगे। चढ़ाई चढ़ने की आदत अब हमें हो चुकी थी। ऊर्ध्वमुख चलने के शास्त्र को हमने अनुभव से हासिल कर लिया था। धीरे-धीरे चलना। उच्छ्वास न आए, ऐसे धीरे-धीरे क़दम बढ़ाना। चढ़-चढ़कर थक जाएँ तो एक जगह पर हाथ की छड़ी पर वज़न डालकर खड़े रहना। बाद में आगे क़दम बढ़ाना। थक गए कहकर बैठना नहीं। बैठ गए तो पाँव में फोड़ा निकलते हैं। आगे चलने में कठिनाई होगी, इसे हमने अनुभव किया था। पर्वत की चढ़ाई से हम डरते नहीं थे। फिर भी सिंघोटि की इस चढ़ाई ने हाँफने को विवश किया। पूरा चढ़ते बस, बस हो गया। हाँफने भी लगे। यह बात सच है। मानव को कितनी भी कठिनाई हो, उसे वह कम करने का प्रयत्न नहीं करता। वह संकटों को सहन करता है। इतना ही नहीं, कठिनाइयों को आमंत्रित करता है। नहीं तो आप ही बताइए उसे हिमालय जाने की क्या आवश्यकता है? सच बात यही है—मनुष्य की इच्छा, बड़प्पन सुखी होने के लिए नहीं। बड़ा बनने के लिए मानव सब त्यागने के लिए तैयार रहता है। कितनी भी बाधाएँ आएँ, सहन करता है। बड़ा बनने के लिए मानव पैसा, प्रसिद्धि, भोगविलास—सब कुछ छोड़ देने के लिए तैयार रहता है।

जीवन में दुःख है—इसे खोजने वाले बुद्ध थे। उसने कहा—"दुःख को दूर करने का एक उपाय है। वह कौन-सा? सुख को त्यागकर बड़े दुःख को सहन करना। सुख का त्याग करना।" इसलिए लोग बुद्ध का सम्मान करते हैं। बुद्ध की राह पर चलना कठिन है। इसलिए मानव उस मार्ग पर चलते रहता है।

कठिनाइयों को विपदा समझने वाला डरपोक और मूर्ख होता है, जीने का हक़ उसे नहीं है।

पहाड़ चढ़ते-चढ़ते वृक्षों की पंक्तियाँ गहरे होने लगीं। देखते-देखते अँधेरा छा गया। जमुनोत्री जाने के मार्ग में जंगल थे। उन जंगलों में अँधेरे को देखा था। पर वहाँ डर-डरकर ही सही सूर्य की एक किरण जंगल में झाँककर देखती थी। लेकिन यहाँ लुका-छिपी के लिए भी उसे अवसर नहीं था। अँधेरा इतना था कि मेरे सामने हाथी आकर भी खड़ा होता तो भी मुझे नहीं दिखता। निसर्ग का एक रुद्र रूप मेरी आँखों के सामने खड़ा जमुनोत्री था। शेक्सपियर के जैसे मैं भी यहाँ सौंदर्य के निर्माण करने वाले कलाकार का हाथ ढूँढ़ने लगा। और Sermons in stones, books in running brooks and wisdom in everything देखने लगा। चार-पाँच मील चलने पर जंगल कुछ-कुछ तरल हो गया। वैसे ही आगे बढ़कर एक उघड़े-उघड़े पहाड़ पर चढ़ने लगे। मील भर वहाँ पहुँचे थे ही... मैंने ज़ोर से पुकारकर कहा—

''गोदु...गोदु...देख...यहाँ...।''

उत्तर दिशा में हिमशिखरों का परिषद जम गया था। जमुनोत्री, गंगोत्री, केदार, बदरी के शिखरों के साथ उत्तर हिमशिखर भी आए थे। बादलों ने उन्हें घेर रखा था। ये हिमशिखर अभी-अभी स्वर्ग से उतर रहे हैं... अभी पहुँचे हैं, ऐसा लग रहा था। पीछे नीले शुभ्र आकाश ने उनकी शोभा और बढ़ा दी थी।

हमसे पहले नरेश वहाँ पहुँचा था। खंभे की तरह खड़े होकर वह हिमशिखरों को देख रहा था। उसकी वाणी ही मूक हो गई थी।

हिमशिखर के 'मूड' को पल-पल बदलते मैंने देखा। मूड जैसे-जैसे बदल रहा था उनके मुख का रंग भी बदल रहा था। कुछ ही क्षणों में उन पर सुनहरा रंग आ गया। मुझे लगा, वहीं बैठ जाएँ। मुझे पूरा दिन आकाश में तैरने वाले बादलों को देखने की आदत है। काम-धाम छोड़कर घंटों मैं बादलों का सरकना देखते रहता हूँ। पीछे एक बार बादलों का घूमना-फिरना डायरी में लिखकर रखने की आदत बन गई थी। एक दिन मुझे लगा, भगवान ने मुझे दिल क्यों दिया? उसी दिन डायरी निकालकर कोने में रखा। उस दिन से हर रोज़ बादलों को देखने के मूड को हृदय के परदे पर लिखकर रखने लगा। बादल रंग के साथ आकार को भी बदलते रहते हैं। हिमशिखरों का ऐसा नहीं है। वे केवल रंग को बदलते हैं।

अरे...यह क्या हुआ?

नीचे के बादल ऊपर उठे और क्रमेण पूरे दृश्य को छिपाने लगे। हिमशिखर छिप गए।

''आह?''

मैं 'मेघदूत' के यज्ञ के समान बादलों के घेर गाने लगा। छह-दस मिनट हो गए। बीस मिनट हो गए। बादल वहाँ से हटे ही नहीं। पिघले नहीं। मुझे निराशा हुई। भारी मन से घाट उतरने लगे। तीन मील उतरने पर सीधी राह मिल गई। वहाँ न चढ़ाई थी, न उतरना। हिमालय में पहली बार हम ऐसे समतल मार्ग पर चल रहे थे। नौ मील कैसे चले, पता ही नहीं चला।

उत्तर काशी पहुँचे तब गंगा हमारे स्वागत के लिए आई थी।

गंगा नदी सामान्य रूप से उत्तर से दक्षिण-पूर्व दिशा में बहती है। केवल दो जगहों पर वह उत्तरवाहिनी हो गई है। इन दो स्थानों को हमारे पूर्वजों ने 'तीर्थ' का गौरव दिया है। उसमें एक उत्तर काशी और एक काशी। काशी में जो भी है—विश्वेश्वर का मंदिर हो, दशाश्वमेध घाट हो, वह सब उत्तर काशी में है। जो नहीं है वह है गंदगी और लोगों की भीड़। यहाँ आना आसान नहीं, शायद इसलिए यह स्थान पवित्र होगा। खुली-ताज़ी हवा। गर्मियों में ज़्यादा धूप भी नहीं होती है। ठंड के दिनों में अधिक ठंड भी नहीं रहती है। माना जाता है कि यह परशुराम की जन्मभूमि है। लेकिन किसी ने इसे *महाभारत* का 'वारणावत' कहा तो मुझे आश्चर्य हुआ। दुर्योधन ने पांडवों को सजीव दहन करने की साज़िश की थी। उनके लिए एक लाक्षागृह बनवाया था। उसे आग लगाई थी। कहते हैं, वह सब कुछ यहीं हुआ था।

विश्वेश्वर के मंदिर में अष्टधातु से बने एक पुराना त्रिशूल देखने को मिला। उस पर पुरानी लिपि (ब्राह्मी लिपि) में लिखा एक लेख था। उसके अर्थ को बताने वाला यहाँ कोई नहीं मिला। उस समय मैं थोड़ा उदास हुआ।

उत्तर काशी का नाम याद आते ही मेरा मन एक कारण से भर जाता है। मुझे यहाँ दो 'देवता मनुष्य' देखने को मिले। एक स्वामी तपोवन, दूसरे साधु विष्णुदास। दोनों ही दक्षिण भारत के। 30-40 वर्षों पहले यहाँ आकर रुके थे। दोनों ही संस्कृत के बड़े विद्वान थे। दोनों ब्रह्म-विद्या में पारंगत थे। ग्रामीण भाषा में अगर कहें तो दोनों ने भगवान को देखा था। देवता से साक्षात्कार प्राप्त करने वाले।

स्वामी तपोवन जी एक समय में प्रख्यात पत्रकार, कवि और वक्ता के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने संस्कृत में *ईश्वर दर्शन* नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ उनका अनुभव और आत्मकथा है। उन्होंने *हिमगिरि विहार* नामक एक प्रवास-कथन भी लिखा है। उसके बाद उन्हेंने लिखना ही छोड़ दिया। स्वामी विष्णुदास जी ने कुछ भी नहीं लिखा। इतना ही नहीं, वे बातें भी नहीं करते।

अध्यात्म के नाम पर चलने वाले ढोंग के बीच सच्चे संन्यासियों को कहाँ ढूँढ़ें ? इस कौतूहल के लिए उत्तर-स्वरूप ये दो महान व्यक्ति मुझे मिले। किसी भी भीड़ में छोड़ने पर भी ये दोनों दिखाई देंगे। इनकी आँखों में प्रेम की धारा बहती है। संसार में यदि किसी ने भगवान को देखा हो तो वे ये दोनों हैं। सच में देखा है, ऐसा लगता है। ऐसे अपरूप व्यक्तित्व वाले और एक व्यक्ति को मैंने देखा है। वह है जे. कृष्णमूर्ति।

कहा जाता है, गहराई में ली गई साधना का परिणाम उसके शरीर पर भी होता है। वह सच ही होगा। तपोवन जी की झोंपड़ी पहाड़ पर थी। जब हम उनसे मिलने गए तो वे दोपहर की नींद पूरी कर उठ गए थे। चमकने वाले तांबे के जैसा उनके शरीर को देखकर मुझे गाँधीजी की याद आ गई। उनकी काया भी ऐसे ही चमकती थी। नरेश ने जब उनसे गीता के श्लोक का अर्थ पूछा activity और action इन दो अंग्रेज़ी पदों से तपोवन जी ने 'कर्म' का अर्थ समझाया। उससे मेरे मन के अनेक संदेह दूर हो गए। नरेश ने जब कहा, ''विनोबा जी कहते हैं, क्रिया और कर्म एक नहीं हैं कहने के लिए अध्यात्म नहीं चाहिए, व्याकरण ही उसे आपको बताएगा'', तो उन्हें अच्छा लगा और वे कहने लगे, ''फिर, कर्म का मतलब तो तुम जानते हो...''

मैंने उनसे एक प्रश्न पूछा—''भगवान को पाने के लिए, पहले ही हम उसकी शरण में क्यों जाएँ?'' उन्होंने कहा—''दूध से दही बनाना हो तो पहले ही थोड़ा दही मिलाना होगा। जिसको तुम पाना चाहते हो, पहले उसकी शरण में जाओ...तब वही तुम्हारा हाथ पकड़ ले जाएगा।'' मुझे शरणागत होने का अर्थ एक पल में समझ में आ गया।

विष्णुदासजी से मिलने के लिए हमें गंगा नदी के उस पार के तट पर दो सवा दो मील चलना पड़ा। दरवाज़े पर हमें देख वे उठे। साक्षात भगवान का स्वागत कर रहे हों ऐसे ख़ुश हो, आगे बढ़कर हमारा स्वागत किया। उनकी मुस्कुराहट ने हमारा दिल जीत लिया। उनकी उम्र लगभग अस्सी वर्ष होगी। चमड़े पर झुरियाँ आई थीं। फिर भी उनमें एक प्रकार का यौवन, नहीं....नहीं बच्चे की कोमलता दिखाई देती थी। वे नग्नावस्था में थे, उनके शरीर पर एक लंगोट भी नहीं थी। फिर भी कितने मनमोहक दिखाई दे रहे थे। पुरुष की इतनी सुंदर नग्न देह को केवल खलील जिब्रान के चित्रों में देखा था। इस नदी की एक बूँद शरीर पर पड़ने से लगा जैसे

काया जम गई हो। ऐसे हिम की ठंड में भी वे घंटों नदी में हर दिन उपासना करते थे। उनके पास एक शॉल देखा। सुबह उठते ही दीवार पर डाल दिनभर सुखाकर संध्या में तह करके अंदर ले जाकर रखते। कितने ही सालों से यह क्रिया चल रही थी। मुझे कुछ याद आया।

गंगोत्री के पास एक पागल रहता था। जो भी गंगोत्री आता, उनकी सेवा वह करता था। किसी के पैर दबाना, किसी की कमर दबाना। किसी को खाना बनाकर देना, किसी को स्नान के लिए पानी गरम करके देना। सेवा का मौक़ा वह कभी खोता नहीं था। सच में वह एक महापुरुष ही था। अपना परिचय किसी को न हो, अपनी अंतरंग की पहचान किसी के समझ में न आए, इसलिए वह पागलों जैसा बरताव करता था।

रामकृष्ण परमहंस का एक ही शिष्य उन्हें समझ पाया था। उन दोनों ने एक ही जगह पर कितने ही दिन गुज़ारे थे। रामकृष्ण का शिष्य जब वहाँ से निकल रहा था तो इस 'पागल' को एक शॉल दिया था। 'यही वह शॉल होगी न?' और यही वह 'पागल होगा'—मेरे मन ने कहा।

अब तक हिमालय की इस यात्रा में एक दिन से अधिक कहीं नहीं रुके थे। कई जगहों पर रुकना चाहिए, ऐसा लगा भी था। जहाँ अच्छा लगे, वहाँ रुकना ही है तो गंगोत्री में ही एक हफ़्ता रुक सकते थे। उत्तर काशी में ही केवल दो दिन रुके थे। आगे ही नहीं बढ़ रहे थे। अब तक कितने ही भव्य दिव्य दृश्य को देखा था। अब मेरे हृदय को भी एक प्रकार की भूख सताने लगी। मैं *भगवद्गीता* को अपने साथ लेकर गया था। यहाँ उसे पढ़ने लगा। इससे पहले भी कई बार *भगवद्गीता* को पढ़ा था। गीता का अध्यात्म और समाजशास्त्र समझने के लिए उससे संबंधित भाष्यों को भी पढ़ा था। लेकिन अब तक मूल संस्कृत भाषा की गीता को सूक्ष्म रूप से नहीं पढ़ा था। केवल अनुवादों को ही पढ़ा था। इस बार मूल संस्कृत स्रोत को ही पकड़ा था। सुबह पढ़ने बैठा और दोपहर तक पढ़कर ख़त्म किया। विचारों के हिमालय में विचरण कर रहा हूँ, ऐसा लगा। गीता का प्रभाव इससे पहले मुझ पर कभी नहीं हुआ था।

स्वजन, स्वभाव, स्वकर्म, स्वधर्म इत्यादि शब्दों के देखते ही गीता मुझसे बात करने लगी। तभी काका साहब की बात याद आई। गीता एक पुस्तक नहीं, वह एक personality है। पहले गीता की भाषा को समझने के लिए दुभाषिये का सहारा

लेना पड़ा था। अब हम दोनों की बातचीत के लिए किसी तीसरे के सहारे की आवश्यकता नहीं थी। मैंने अंत में उससे पूछा, ''तुम मुझसे क्या कहते हो?'' और मुझे उत्तर मिला, ''तुम पहले तुम्हारा स्वधर्म क्या है, इसे ढूँढ़ो। व्यवसाय को ढूँढ़ने से पहले मनुष्य को सबसे पहले अपने स्वधर्म को ढूँढ़ निकालना चाहिए। स्वधर्म से चलना—यही सच्ची जीवन-कला है। यही सच्चा आनंद है...यही भगवान की पूजा है। स्वधर्म से जीनेवाला मनुष्य कभी लाभ-हानि, यश-अपयश की चिंता नहीं करता। वह फल की इच्छा भी नहीं रखता। स्वधर्म 'विगुण' होने पर भी उसे नहीं छोड़ता, छोड़ने के लिए होता भी नहीं।

श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥...''

गीता ने ही मुझे उत्तर काशी में पहली बार 'स्वधर्मशास्त्र' सिखाया था। उस दिन से इस 'शास्त्र' का नियम ढूँढ़ते आया हूँ। गीता ने हर किसी को कुछ न कुछ दिया है। उसने मुझे भी अंजुली भर के दिया है। नया पाठ पढ़ाया है। नई दृष्टि दी है। एक जीवन-दृष्टि दी है। हम तीसरे दिन वहाँ से निकले।

रास्ते में मणेरी, भटवाड़ी, गंगणानी, सुक्कि, झाला, हरसिल आदि कई सुंदर स्थल आए और गए। चार दिन तक लगातार चलकर हमने लगभग चालीस मील पार कर लिया। सुक्कि तक का रास्ता ठीक था। बड़ी-बड़ी चढ़ाइयाँ, उतरने को नहीं मिला। उसके बाद जमुनोत्री के रास्ते को याद दिलाने वाली राह शुरू हो गई। गंगा की दाहिनी ओर मुड़ते-मुड़ते वह चढ़ रही थी। दो दिन उत्तर काशी में रहने के कारण चलने में तीव्रता नहीं आई थी। इसलिए चलने में पहले थोड़ी दिक़्क़त हुई। दूसरे-तीसरे दिन पैरों में गति आ गई। इसी कारण हम आगे के कठिन, दुर्गम मार्ग को आसानी से पार करने लगे। अब हमें हिमालय में सीधी राह मिलती तो आश्चर्य होता था, बुरा भी लगता था।

भटवाड़ी तक गंगा शांत होकर बहती है। उसके उद्घोष में वेदों की शांति सुनाई पड़ती थी। भटवाड़ी छूटते ही उसने नया अवतार धारण कर लिया। माला गाँव पहुँचने तक वह प्रपात की तरह छलाँग लगाने लगी। वैसे देखा जाए तो उसका पाट चौड़ा नहीं है। पहाड़ों के बीच से नागिन की तरह रास्ता बनाकर जब बहते हुए, उछलते हुए आती है तो लगता ऊपर से नीचे ढहकर गिर जाएगी। उसकी गति ऐरावतों को एक पल में खींचकर ले जाने वाली जैसी है। और उसकी आवाज़? समुंदर के ज्वार भाटे को भी मात देने वाली । बेचारे, देवदार के वृक्ष उसकी पुकार सुनकर दिग्भ्रमित हो, पर्वतों पर जहाँ जगह मिले वहाँ जाकर मानो खड़े हो गए हैं।

गंगा के इसी रुद्रावतार को देखा। मन में ही फुसफुसाया—"इसे सहन करने की शक्ति केवल महादेव की जटाओं में है, और किसी के नियंत्रण में नहीं आ सकती। पुराणों में जो ऐसा कहा गया है, वह सच है।"

धराली में उसे स्तब्ध होते देखा। उसकी गति वहाँ मंद हो गई थी। मुझे लगा यहाँ कुछ होने वाला है। मैंने आगे देखा, पीछे देखा, बायीं ओर देखा, दाहिनी ओर देखा, ऊपर देखा और फिर गंगा की ओर देखा। कहीं कुछ भी घटित होने वाला नहीं था। वह कैसे? मैं दुविधा में पड़ गया।

धराली में पहले एक मारवाड़ी यात्री से भेंट हुई। बेचारा, उसका बेटा घर छोड़कर भाग गया था। उसे ढूँढ़ते हुए वह यहाँ आया था। आख़िर वह पिता का हृदय ही तो था। बाहर भले ही पत्थर की तरह दिखे, पर उसके अंदर प्रेम का स्रोत जो बहता है! और यह पिता का दिल रखने वालों को ही दिखता है। उस मारवाड़ी के हृदय में मैंने प्रेम का, क्रोध का, पश्चात्ताप का फ़व्वारा देखा। मैंने उससे कहा, "हम बच्चों को प्रेम देते हैं, पैसे देते हैं, सब कुछ देते हैं, पर 'समय' नहीं देते। वहीं हम चूक जाते हैं। हमें अपने बहुत सारे कामों के बीच में भी समय निकालकर उनके साथ खुलकर बातचीत करनी चाहिए। उन्हें मित्रों के समान देखना चाहिए।" उन्हें मैंने जिब्रान की बातें बताईं। 'The archer sees the mark upon the path of the infinite and He bends you with His might that His arrows may go swift and far. Let you bending in the Archet's hand be for gladness; for even as He loves the arrow that flies, so He loves also the bow that is stable.....'

वह कुछ नहीं बोला। कुछ समय के बाद उसके मुँह से शब्द निकले 'मेरा आधा जीवन बुज़ुर्गों को समझने में गया, और बचे हुए उम्र को लड़के को समझने में बिताऊँगा...।"

तभी—

"रवींद्र, रवींद्र जल्दी आइए।" नरेश की हड़बड़ाहट की आवाज़ सुनाई दी। वह बाहर गया था। आवाज़ सुनकर मैं बाहर गया।

पश्चिम में हिमशिखरों की एक पंक्ति खड़ी थी।

सिंघोटी के बाद हिमशिखर हमें मणेरी में दिखाई दिए थे। वह भी सिर्फ़ दो-तीन मिनट के लिए। जब माला पहुँच थे तो एक काले-काले पहाड़ से चिपके हिम के खंडों को देखा था। हिमशिखर वैसे ही होते हैं। नग्न होते हैं तो सुंदर लगते हैं। दिखाई देकर ग़ायब होने पर पागल बना देते हैं। थोड़ा धुँधला-धुँधला दिखने पर

तो वे हमें सीधा स्वर्ग में ले जाते हैं। आज उनकी सुंदरता का कोई ठिकाना नहीं है। वे नंगे थे, स्थिर थे, हिल नहीं रहे थे। छिपने की जल्दी उन्हें नहीं थी। उनके रंगों में भी स्थिरता थी। दोपहर के तीन बजे थे। सामान्यत: इस समय सृष्टि में एक नई आभा होती है। उसमें भी बादलों ने अपनी उदारता दिखाई थी।...पंद्रह मिनट हो गए, बीस मिनट हो गए, तीस मिनट हो गए। एक भी बादल नहीं हटा। मैं टकटकी लगा हिमशिखरों के सौंदर्य का आस्वादन करने लगा। पल-पल आनंद का घूँट पीने लगा। जैसे काली घाटी में शुभ्रवर्ण की एक सुंदरी को देखने पर होने वाली ख़ुशी। उसका सौंदर्य जैसे मेरी आँखों को आकर्षित कर रहा था। वैसे धराली का प्रकृति-सौंदर्य मेरे नयनों में समा गया। ऐसे बड़े भयानक हिमालय में छोटे-छोटे पहाड़, धीमे से बोलने वाली नदियाँ, शांत धीमी बहनेवाली ठंडी हवा, धराली के वातावरण को देख मेरे मन ने ''अगर कभी वानप्रस्थाश्रम जाने का प्रसंग आ गया, अपने लोगों से कहीं दूर रहने की इच्छा हुई तो मैं नाम बदलकर धराली में आकर रुकूँगा। यहीं हिमशिखरों का ध्यान करते हुए अंतिम दिनों को व्यतीत करूँगा।'' अलिखित निर्णय लिया।

थोड़ी देर में बादल ऊपर उठने लगे। जिन दृश्यों में मैं खोया था, वे ग़ायब हो गए। मुझे गंगा की याद आई। मैंने उसके मुख की तरफ़ देखा। वह मुस्कुराई। मैंने उससे कहा—''तुम यहाँ आकर क्यों चकित हो गई, यह मुझे अब पता चला।''

उस दिन शाम तक हमारी चर्चा चलती रही। नरेश ने एक प्रश्न सामने रखा—''निसर्ग के शांत सुंदर रूप अथवा रुद्र गंभीर रूप देख मानव क्यों इतना ख़ुश होता है?''

हम दोनों की जाति एक है। हम दोनों प्रकृति के किसी भी रूप को देख ख़ुशी से नाचने वाले 'कवि' की जाति के हैं। हम कविता नहीं लिखते। पर नदी-प्रपातों को देखने पर, टीले-पहाड़ों को देखने पर, समुद्र और किनारों को देखने पर जैसे कवि में स्पंदन होता है, वैसे ही हो रहा था। पेड़-पौधे, फूल-फल, पशु-पक्षी, कीट-चींटी, मक्खी-तितली कुछ भी सही, उन्हें देखने पर हमें अचरज होता है। एक दिन मेरे एक मित्र ने माइक्रोस्कोप में मुझे एक कीट को दिखाया। व्हॉलव्हॉक्स उसका नाम। हरे रंग का। वनस्पति मतलब वनस्पति नहीं। पशु कहें तो पशु नहीं। कहते हैं दुनिया के प्रारंभ से यह कीड़ा है। केवल पानी की बूँद पर जीवित रहता

है। जब उसे देखा तो मैं ख़ुद को भूल गया। कहते थे, रामकृष्ण परमहंस समाधि लगाकर बैठते थे। मुझे उस दिन वैसा अनुभव हुआ।

ऐसे अनुभव पता नहीं मानव को क्यों होते हैं?

विज्ञान जब प्रारंभिक अवस्था में था तो जो भी हाथ लगता उसकी परीक्षा करता था। पहले तो उसने कुछ सजीव, कुछ निर्जीव वस्तु के रूप में बाँटा। उसके बाद उसे बुद्धि आई। जिनमें भी जीव होता है वह सब निर्जीव से ही जन्म लेते हैं—यह उन्हें बाद में पता चला। दुनिया में सजीव प्राणियों में यदि कोई अचरज का प्राणी है तो वह मनुष्य और उसका मस्तिष्क है। वह जिस धरती पर रहता है वह एक समय में आग का गोला था। वह एक दिन ठंडी हो गई । कुछ समय बाद उसमें पानी का जन्म हुआ। इस पानी का और सूर्य के किरणों का कुछ दिनों तक खेल चला। एक दिन पानी ने संसार के पहले 'जीव' को जन्म दिया। इस जीव के आगे दो भाग हुए। एक भाग ने वनस्पति का रूप लिया, दूसरे भाग ने प्राणी का। उसके बहुत दिनों के बाद उस प्राणी जाति से ही मनुष्य का जन्म हुआ।

'विकास' अर्थात् 'जो है' पर नज़र नहीं आता, वह नज़र आए, जो छिप गया है उसका सामने आना—ऐसा अगर मानें तो हमें ऐसा कहना पड़ेगा कि मनुष्य के मस्तिष्क जैसी अचरज की वस्तु जो आज भी नज़र आती है वह उस आग के गोले में छिपकर 'बैठी थी'। वह पहले दिखाई नहीं देती थी। करोड़ों वर्षों के विकास के बाद अब दिखाई दे रही है।

अगर ऐसा है तो इस संसार में कुछ भी निर्जीव नहीं था। ऐसा कहना पड़ेगा न? इस मिट्टी में जीव की सृष्टि होने के कारण इस मिट्टी में 'जीव' है, ऐसा मानना पड़ेगा न? संसार में निर्जीव कुछ भी नहीं। संसार में जो भी है वह 'जगत्याम् जगत्'—जन्म लेता है, बदलता है, नया रूप लेता है। ग़ायब हो गया जैसा लगता है पर ग़ायब नहीं होता है। बीज अंकुरित होने पर ही पौधा, पेड़ बनता है। उसमें फूल लगते हैं, फल लगते हैं। ऐसे में 'बीज' ग़ायब हुआ, नष्ट हो गया मानने की ज़रूरत नहीं। सब कुछ सजीव है। पर रूपांतरित होते रहता है। हम स्फटिक, Crystals मानें तो उसमें भी जीव है। संसार की सभी वस्तुओं में जीव है। सजीव सृष्टि को हम एक प्रकार से वनस्पति और पशु कहकर बाँटते हैं, जो ठीक नहीं है। कुछ जीवों में तो दोनों जाति के लक्षण दिखाई देते हैं।

संसार में सबकुछ एक ही होने के कारण सबमें परस्पर संबंध है। एक-दूसरे के आधार पर ही जीते हैं। पशु को जीवित रहने के लिए वनस्पति का सहारा चाहिए। पशुओं को जीवित रहने के लिए अन्य पशुओं का भी सहारा चाहिए।

वनस्पति को जीवन के लिए मिट्टी का आधार चाहिए, हवा का सहारा भी चाहिए। पेड़-पौधे न होते तो पशु-पक्षी नहीं होते। धरती न होती, मिट्टी न होती तो पेड़-पौधे न होते। पेड़ों को बारिश चाहिए। बारिश के लिए पेड़ चाहिए। बारिश का पानी पहाड़ों में इकट्ठा करने के लिए पेड़ चाहिए।

जीवन के विविध रूपों को देखने पर आश्चर्य होता है। हर एक रूप अपनी जाति के बढ़ाने के लिए, रक्षा करने के लिए परिश्रम करता है। इन सबको देखने पर अचरज होता है। हर एक रूप का स्वभाव, रूढ़ियों को देखने पर सच में आश्चर्य होता है।

'सत्य' की खोज में मानव दो मार्गों पर चलते आया है। एक मुग्धमन की राह, दूसरी बुद्धि से युक्त राह। इस दूसरी राह पर चलने में भी वह मुग्धता के साथ ही चला है। बुद्धि उसे सत्य की ओर ले जाती है। सत्य का साक्षात्कार वह (बुद्धि) कराएगी, यह विश्वास उसे है। बुद्धि उसे है। बुद्धि पर विश्वास रख मानव विज्ञान की राह में चलता है। तब उसे अब तक इकट्ठी की हुई ज्ञान की गहराई, चौड़ाई आदि सीमातीत लगी होगी। अभी इकट्ठा करना, प्राप्त करना बहुत कुछ है—ऐसा लगता होगा। मुझे जो ज्ञात है, उससे कहीं अधिक मुझे ज्ञात करना है, जब उसे पता चला तब उसमें एक प्रकार की वैज्ञानिक नम्रता—साइंटिफ़िक ह्युमिलिटि—पैदा हो गई। उस दिन से उसकी स्थिति उपनिषद् के ऋषि-मुनियों जैसी हो गई।

उस दिन से विज्ञान अध्यात्म की भाषा बोलने लगा। धराली में बैठकर मैं सोचने लगा। इसके बाद अध्यात्म को विज्ञान के मार्ग पर चलना है। आज विज्ञान अध्यात्म की आँखों द्वारा जब देखने चला, अध्यात्म पुराने विश्वास से चिपका हुआ न हो। विज्ञान को इस जगत के पीछे एक directing creative mind दें तो अध्यात्म अंधा कैसे रह सकता है?

भागीरथी द्वारा निर्मित एक रेतीले द्वीप में मैं और नरेश बैठकर चर्चा कर रहे थे। प्रकृति की ओर सूक्ष्मता से देखने पर मुझे होने वाले संतोष की बुनियाद में mystic communion है। चारों ओर जो दिखाई दे रहा है वह और मैं एक ही हैं यह भी ज्ञात हुआ।

उत्तर काशी और धराली के बीच में हमने भोटिया जनजाति के लोगों को देखा। हिमालय के बर्फ़ के पिघलने पर आने-जानेवाले रास्ते के खुल जाने पर तिब्बत की सीमा में रहने वाले ये लोग दल बनाकर बाहर निकलते हैं। गधे और मेढों के पीठ

पर तिब्बती नमक आदि को लादकर चलते हुए देहरादून, मसूरी, शिमला तक जाकर अपनी लाई हुई चीज़ों को बेचकर चावल, आलू, आदि को लादकर वापस तिब्बत की सीमा में रहने वाले अपने-अपने गाँव जाते हैं। साल के बहुत सारे समय में वे हिमालय चढ़ने और उतरने में बिता देते हैं। उनके अपने घर नहीं हैं। उनका पूरा संसार गधे और मेढों पर ही रहता है। जहाँ रात हुई, वही डेरा जमाना उनकी आदत है। सदा दल बनाकर घूमने के कारण उनके साथ पत्नी और बच्चे भी होते हैं, गाय-भैंस भी होती हैं, जंगल के कुत्ते भी होते हैं। भोटिया की औरतों को देख मैं थोड़ा विचलित हुआ। सुंदरता, नज़ाकत कुछ भी उनमें नहीं थी। इतना ही नहीं, अगर मैं उनके हाथ लगा तो वे मुझे लूटकर मार भी डालेंगी—ऐसा कुछ अनुमान हुआ।

जब हम हिमालय में घूम रहे थे तो दलाईलामा का राज्य चल रहा था। चीन और भारत में मित्रता थी। 'हिंदी चीनी भाई-भाई' थे। पर भोटिया जनजाति तिब्बत से एक अच्छी ख़बर ले आई थी। तिब्बत में अब चीन से आई नई हवा बह रही है। इस ख़बर को सुनकर हिमालय के लोगों में एक नया उत्साह उमड़ा था। हमारी सीमा में रहनेवाले इन भारतीय लोगों को हमारे यहाँ की पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में पता ही नहीं था। इतना ही क्यों, भारत में किसका शासन चलता है, क्या करते हैं, इसका ज्ञान भी उन्हें नहीं था। पर चीन में क्या हो रहा है, तिब्बत में कैसी हवा बह रही है, आदि सूक्ष्म विवरण सारे भोटिया लोगों से हिमालय के लोग जानते थे।

धराली के पास मखुवा नामक एक गाँव है। यह गाँव विनोबाजी को वहाँ के लोगों ने दान दिया था। इस गाँव को ही देखने हम वहाँ गए। हमने वहाँ एक सभा चलाई, वहाँ के लोगों को ग्रामदान के महत्त्व के बारे में विस्तार से कहा। तब उनकी आँखों की चमक को मैंने देखा था। तिब्बत में आगे जो होने वाला है वह वहाँ भी हो सकता है, इस आशंका से उन्होंने बहुत सारे प्रश्न पूछे। उनके प्रश्नों के पीछे दिखे 'संदेह' के कारण मैं उदास हो गया। ''हमारी सीमा हमारे हाथों में नहीं है। वह सुरक्षित नहीं है। उत्तर प्रदेश से इस प्रदेश को अलग करना होगा। यह प्रदेश एक 'घटक राज्य' बने। नहीं तो यह प्रदेश ही हमारे हाथ में नहीं होगा''—ऐसा शीघ्र ही मुझे लगा।

उसी दिन मैंने निर्णय लिया कि देश में छोटे राज्य होंगे तो अच्छा होगा।

भोटिया लोगों ने हिमालय में नया समाचार लाकर लोगों में नई आशा जगाई थी।

भोटिया लोग इस समाचार के प्रचार के लिए ही नहीं आए थे। हर साल की तरह वे इस साल भी आए थे। जब वे आते तभी शिमला, मसूरी के लोगों को 'हिमालय का पार-पत्र शुरू हो गया है', यह पता चलता। इस बार संसार के ग़रीब, दुःखी लोगों के अदृष्ट की राह कहाँ-कहाँ खुलनेवाली है, वे यह ख़ुशख़बरी लाए थे। बंजारा जनजाति की आदत के समान उन्होंने जो देखा, जो सुना, लोगों को बता रहे थे। मुझे लगा, वे जब तिब्बत से निकले थे, तब हिमालय के लोगों को बताने वाले महत्व के समाचार लाए थे—हम कहाँ-कहाँ पहुँचे, कहाँ ग़लत हो गए, कहाँ हम पीछे पड़ रहे हैं। सुंदरता का पुजारी बनकर मैं अब तक हिमालय में घूम रहा था। युवक होने के कारण साहस भी मुझमें था। स्वभाव धर्म के कारण गहराई में उतरकर जीवन की समस्याओं के बारे में चिंतन भी करता था। पर अब मुझमें रहने वाला देशभक्त जाग्रत हुआ। देश की अवनति को लेकर चिंता करके नींद भी गँवा ली थी।

धराली से एक मील आगे गए होंगे, देखा—हिमालय ने हमें डराने वाला रूप धारण किया था। राह कुछ कठिन होती गई। जमुनोत्री जाते समय जैसे पहाड़ ढहकर गिरे थे, वैसे इस राह में भी गिरे थे। जो पहाड़ खड़े थे, उनमें भी दरारें आई थीं, वे भी गिरने के कगार पर थे। विपदा आने पर जैसे रोते हैं, वैसे भागीरथी आवाज़ करती बह रही थी, उछल रही थी। कान के परदे फट जाएँ, ऐसी आवाज़ सुन शरीर काँपने लगा। डरते-डरते हम चलकर एक संगम-स्थान पर पहुँचे। जाह्नवी और भागीरथी—दोनों गंगा के ही नाम हैं, ऐसा मुझे लगा था। यहाँ पहुँचने पर ये दोनों नदियाँ दिखाई दीं। दोनों यहाँ मिली थीं। मिली थीं क्या, दोनों एक-दूसरे से घुल-मिल गई थीं। उनके विराट रूप को देखकर नज़दीक के पहाड़ भी काँप रहे थे। कब चक्कर खाकर गिर जाएँ, कह नहीं सकते। दो दिन पहले एक पहाड़ चक्कर खाकर गिरा तो लोहे के पुल को चकना-चूर कर उसे जाह्नवी में मिला दिया था। हमारा रास्ता उस पुल से ही जाता था। पुल के बदले किसी ने लकड़ी के दो तख़्तों को डाल दिया था।

जमुनोत्री का रास्ता कुछ भी नहीं, ऐसे भयंकर दृश्य आते दिखाई दिए। नरेश और देवेंद्र को आँखें मूँदे, प्राणों को मुट्ठी में पकड़े तख़्तों को पकड़ पार करते देखा तो मेरे धैर्य ने मानो जवाब दे दिया। मुझे डर लगने लगा। अगर इन दोनों की स्थिति ऐसी है तो मेरा क्या होगा। मैं वापस जाने की सोच में था। आगे बढ़ने की हिम्मत

नहीं थी। मैं निर्णय ले ही रहा था कि गोदु को पुल पार करते देख 'भगवान का आसरा' कहते हुए कोशिश करके मैंने भी पुल पार किया। कैसे पार किया, मुझे पता ही नहीं चला।

आगे? दीवार की तरह खड़ा एक पत्थर। पैर रखकर ऊपर चढ़ने के लिए कोई दरार भी नहीं थी। हाथ से पकड़ने के लिए कोई आधार नहीं। पेड़ की टहनी भी नहीं, एकदम लंबी शिला। उसके सिर पर हाथ पहुँच रहा था। पर हाथ से पकड़ने पर वज़न से कहीं शिला छाती पर गिर गई तो? देवेंद्र ने राह ढूँढ़ी, शिला पर चढ़कर उसने हाथ पकड़कर एक-एक कर हम सबको ऊपर ले लिया।

उसके बाद घाटी शुरू हो गई। उसका नाम—भैरव घाटी। डेढ़ मील की सीधी चढ़ाई। हमारे पैर थरथराने लगे। ख़ुद को ही ढकेलते हुए आगे बढ़े। वहाँ एक भैरव का मंदिर था। हम वहाँ बैठ गए। लगा—सीधा स्वर्ग में हैं, उतनी ऊँचाई पर हम थे। हिमालय में जहाँ-जहाँ भैरव के मंदिर हैं, वहाँ बहुत सारे रमणीय दृश्य देखने को मिलते हैं। कुछ लोगों को ये दृश्य इतने भाते हैं कि अपने और दृश्यों के बीच के अंतर को मिटाने के लिए खाई में गिरकर जान दे देते हैं।

हमारे प्राण प्यास से तड़प रहे थे। हमारे साथ हमारा नेपाली कुली बमबहादुर था। मैंने उससे पूछा, "और कितना चलना है?" "और दो फर्लांग जाएँगे तो गंगोत्री मिलेगी"—उसने कहा। उठकर चलने लगे। दो फर्लांग हुए, चार फर्लांग हुए, पर गंगोत्री नहीं दिखी। राह भटक गए क्या? मुझे संदेह हुआ। मैंने बमबहादुर को देखा। "आ ही गई, देखिए वहाँ दिखाई दे रहा है न, वही गंगोत्री है"—उसने कहा। गंगोत्री और भी एक मील दूर थी। और हम पूरी तरह से टूट चुके थे। हमसे एक फर्लांग भी चला नहीं जा सकता था। यह बमबहादुर को भी पता चला। उसने झूठ का सहारा लिया और हमारे अंदर साहस भरने लगा।

दोपहर जब गंगोत्री पहुँचे तो हममें से किसी को होश ही नहीं था।

हमसे पहले जो यात्री गंगोत्री पहुँचे थे, दो दिन हुए भैरव घाटी जाकर वे वापस लौट रहे थे। वे जाह्नवी-भागीरथी संगम की ढँकी हुई राह देखकर आ रहे थे। हमें देखते ही 'क्या रास्ता खुला गया' कहकर हमें घेर लिया। हमें थका देखकर उन्होंने अंदाज़ा लगाया होगा कि हम भी उसी रास्ते आए हैं।

ऐसे प्रसंगों में ही मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा होती है। वे यह भूल गए थे कि कुछ क्षण पहले हमारे बीच कोई संबंध नहीं था। और वे परिवार के लोगों के समान सहायता के लिए तैयार हो जाते हैं। हमें पूरी तरह थका देख पंजाबी महिलाएँ

इकट्ठा होकर हम पर प्यार की बरसात करने लगीं। किसी ने पानी दिया, किसी ने खाना दिया तो कोई पैर दबाने लगा..।

मुझे तो ये युग-युगों के साथी लगे।

एक-डेढ़ घंटे सोकर जागने पर ही हम गंगोत्री पहुँचे हैं, यह पता चला।

जमुनोत्री का भयंकर रूप और भव्यता गंगोत्री में दिखाई नहीं देते। सोने की पतली परत से बना एक सुंदर हिमशिखर। दोनों ओर चौड़ाई में गिरे दो काले पहाड़। उन पर हवा में तैरने वाले देवदार वृक्ष का घना जंगल। वहीं आवाज़ किए बिना स्नान करती भागीरथी। गंगोत्री का दृश्य इतना ही। पर उस पवित्रता से ही पूरा वातावरण सुगंधित होता है। नदियों को हमने इतना महत्त्व क्यों दिया? कोई भी देवता कार्य करना हो तो पहले लोटे में पानी भरकर नदियों का आह्वान करना होता है। उसके बाद पूजाकार्य आरंभ होता है। राज्याभिषेक के समय राजा को सात नदियों के तीर्थ से अभिषेक कर लेना होता है। इतना ही क्यों, अब तक हिंदुओं में गंगा, यमुना, सिंधु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा नदियों का स्मरण होता है। कुछ प्रदेशों को हमने नदी का नाम भी दिया है। पाँच नदियों के बीच का प्रदेश ही 'पंच-आब' अर्थात् पंजाब। गंगा और यमुना नदियों के बीच के प्रदेश को 'अंतरवेदी' कहते हैं। हमारे देश का नाम भी एक नदी से ही आया है। 'सिंधु' के उस पार बसने वालों का देश 'हिंद' कहलाया।

हमारे पूर्वजों ने जो नियम बनाए हैं उनमें यात्रा करना भी एक है। कहाँ जाना है? तो उनका कहना है—नदी का मूलस्रोत। नदी का मुखज स्थान, नदी का संगम स्थल, नदी के तट पर—इस प्रकार जहाँ-जहाँ नदी है वहाँ यात्रा करने की सूचना हमारे पूर्वजों ने दी। हिमालय की यात्रा पर जाना पर्वतों को देखने के लिए नहीं, पर्वत तो हमें मार्ग के बीच मिल ही जाते हैं। कहते हैं कि जमुनोत्री, गंगोत्री, केदार, बदरी यात्रा करते हैं तो सवा लाख पर्वतों की प्रदक्षिणा डालने जितना पुण्य मिलता है। पर हम हिमालय यमुना और गंगा के मायके के दर्शन के लिए जाते हैं। मंदाकिनी और अलकनंदा नदी के मूलस्थान को देखने जाते हैं।

नदियों को देखने पर हमारे कवियों की प्रतिभा उभरकर आती है। अच्छा है। पर राजनीति जैसे व्यस्त क्षेत्र में जीवन बिताने वाले जवाहरलाल जैसे भी गंगा के बारे में जब लिखते हैं तो कवि क्यों बन जाते हैं? गंगा पर क्यों सुंदर गद्यकाव्य लिखते हैं!

नदी और हमारे जीवन के बीच घनिष्ठ संबंध होना ही चाहिए। हमने उनके कितने सुंदर नाम रखे हैं? उनका नाम रखते समय हृदय उमड़कर आया था।

नदियों में गंगा नदी हमें अधिक प्रिय है। हमारे हृदय पर हमेशा उसकी छाप बनी रहती है। वह हमारी संस्कृति की जननी है। सिंधु और ब्रह्मपुत्र इससे बड़ी हैं। पर गंगा जितनी पवित्र दूसरी कोई नदी हमें दिखाई दी ही नहीं। हमने नदी को अधिक महत्व क्यों दिया? वह इस स्थल पर नहीं बहती तो पूर्व और उत्तर भारत में सहारा से भी बड़ी मरुभूमि होती? यह देश जीवित नहीं होता? गंगा नदी नहीं होती तो मात्र बारिश के पानी पर ही आश्रित हो प्रगति नहीं कर सकते थे इसलिए? ऐसे उपकार अन्य नदियों को नहीं। अन्य नदियों से भी गंगा नदी का अधिक महत्व होने का एक और कारण है, यह हमारे देश के पुरुषार्थ को प्रतिबिंबित करती है। यह निसर्ग द्वारा निर्मित मामूली नदी नहीं है। गंगा नदी के महत्त्व को जानने के लिए हमें पुराण का सहारा लेना पड़ेगा। गंगा पहले स्वर्ग में बहती थी। उसे धरती पर लाने के लिए अंशुमन नामक राजा ने अपनी पूरी उम्र गवाँ दी। उनके बाद यह कार्य उनके पुत्र दिलीप ने आगे बढ़ाया। उसके समय में जो काम अधूरा था, उसे उसके पुत्र भगीरथ ने आगे बढ़ाया, सफल भी हुआ। वह गंगा को स्वर्ग से धरती पर ले आया।

सगर वंश की तीन पीढ़ियों ने हिमालय का सर्वे कर हिमालय के एक स्रोत को इस ओर घुमाने का बहुत प्रयत्न किया था। इस कोशिश से यह नदी तिब्बत के बजाय भारत में बहने लगी। यह इतिहास पुराण-कथा में है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है—भगीरथ की तपस्या की कथाएँ पुराणों में आई हैं। पर उसके नाम के साथ 'प्रयत्न' नामक पद जोड़ा है। 'भगीरथ की तपस्या' ऐसा उल्लेख नहीं है। 'भगीरथ प्रयत्न' कहा है। गंगा को धरती पर लाने के लिए भगीरथ नाक पकड़कर तपस्या पर नहीं बैठे थे। उन्होंने एक श्रमदायक प्रयत्न किया था। तीन पीढ़ियों का प्रयत्न है यह। तभी गंगा इस ओर बहने लगी—यही इसका अर्थ है। गंगा के लिए इतना बड़ा प्रयत्न किया। उसे देश के अधिक लोग प्रेम करें तो इसमें ग़लत क्या है?

भगीरथ प्रयत्न जब यहाँ चल रहा था तो खल्जियन और इजिप्सियन संस्कृति के साथ क्या हमारी संस्कृति का संबंध था, यह प्रश्न मेरे मन में उठा। खाल्जियन संस्कृति का 'सर्गोन' और इजिप्शियन् संस्कृति का 'सगीनस' यानी हमारी संस्कृति का सगर पुत्र? कुछ लोगों का कहना है सागर का पुत्र 'असमंजस' इजिप्त के इतिहास में मिलने वाला 'अहंमज' एक ही है।

पुराण की कथाएँ, लिखित कथाएँ, काल्पनिक कथाएँ ऐसा मानना ठीक नहीं है। उसमें इतिहास छिपा होगा, छिपा है। उसके अनुसंधान की आवश्यकता है।

अरे! मैं कहाँ से कहाँ पहुँचा! गंगोत्री की कथा सुनाते-सुनाते बेबिलोन तक तैरते गया। पुराण में अटका। मुझे पता है—यात्रा पर जाने वाले के पैर जैसे चलते हैं, आँखें जैसे घूमती हैं, वैसे उसका मन भी घूमते रहता है, कहीं से कहीं उछलते रहता है। हाँ! मैं क्या कह रहा था? गंगोत्री को जो महत्व मिला वह गंगा नदी के कारण। वह तिब्बत में बहती है (गंगा शब्द भी तिब्बत भाषा का है) उसे भगीरथ ने इस ओर घुमाया। जिस स्थान पर भगीरथ का 'प्रयत्न' चला वह गंगोत्री।

गंगोत्री के आगे अठारह मीलों की दूरी पर 'गोमुखी' नामक स्थान है। वहाँ हमेशा बर्फ़ गिरती रहती है। इसलिए वहाँ गंगा नदी स्वर्ग से उतर रही है, ऐसा लगता है। स्वामी रामतीर्थजी इस स्थान को देखकर पगला गए थे। उनकी रचनाओं में गोमुखी का सुंदर वर्णन हुआ है। उत्तर काशी में स्वामी तपोवनजी के मुख से भी गोमुखी के वर्णन में एक कविता सुनी थी। रामतीर्थ, तपोवनजी ऐसे साधु-संन्यासियों को भी पागल कर देने वाला यह स्थान सच में स्वर्ग से सुंदर होगा...।

गंगोत्री पहुँचने पर हमने गोमुखी जाने के बारे में विवरण इकट्ठा किया।

पर हम पंद्रह दिन पहले ही गए थे। काली-कमलीवाली धर्मशाला खुली नहीं थी।

ठंड के मौसम में यह प्रदेश बर्फ़ में डूबा रहता है। इसीलिए उत्तर काशी में गए साधु-संन्यासी लौटकर नहीं आए थे। पता चला कि गोमुखी जाना है तो इस मार्ग में गिरे बर्फ़ के पिघलने तक इंतज़ार करना पड़ता है। इतने नज़दीक आकर भूलोक के इस नंदनवन को, वह भी केवल अठारह मील दूरी पर, देखे बिना चले जाएँ या उसके लिए पंद्रह-बीस दिन इंतज़ार करें? समस्या उठ खड़ी हुई।

पंद्रह-बीस दिन रुकने के लिए मैं तैयार था। पर ऐसा करते तो हम बदरीनाथ को पंद्रह-बीस दिन देर से पहुँचते। इतने में अगर वहाँ बारिश शुरू हो गई तो, वहाँ से आगे देखने लायक़ अनेक स्थानों से वंचित रह जाते। करंदीकर सनातन धर्मवाले। उन्होंने धर्मशास्त्र को आगे रखकर कहा—"शास्त्र में गृहस्थ को केवल गंगोत्री तक जाने की अनुमति है। गंगोत्री से आगे जाने का अधिकार केवल संन्यासियों को है। इनके अलावा बाहर के महापुरुषों को है। हम उसमें से दोनों नहीं। इसलिए इससे आगे जाने की ज़रूरत नहीं है।"

करंदीकर के शास्त्र को हम ठुकरा सकते थे। पर उनकी उम्र ने हमें उनकी बात मानने के लिए मजबूर किया। इतने दिन हमारे साथ रहकर, हमारे दल में ही बुज़ुर्ग बन गए थे। उनकी बात कोई नहीं टालता था। हम चुप हो गए।

एक यात्री ने हमें बताया था कि गत वर्ष एक यूरोपियन युवक मना करने पर भी वहाँ गया था और लौटकर नहीं आया। और एक पंजाबी साधु ने कहा था—''गोमुखी की यात्रा को कठिन कहने से भी पवित्र कहना ठीक होगा। वहाँ 'गंदगी' नहीं चलती। रास्ते में मलमूत्र विसर्जन नहीं कर सकते। नाक निचोड़ नहीं सकते। इतना ही नहीं, मन में भी बुरे विचारों को ला नहीं सकते।''

हमने बहुत विचार किया। गोमुखी जाने के संकल्प को त्याग दिया। संसार में देखने लायक़ बहुत कुछ है। सब कुछ देखना कहाँ संभव है? हिमालय आने पर भी हमें कुछ स्थानों को देखे बग़ैर जाना पड़ रहा है। हम फिर यहाँ नहीं आ सकते। इस आयु में फिर ऐसे स्थलों को देखने का भाग्य नहीं मिलेगा। जमुनोत्री और गंगोत्री के बीच राह में 'धुमदीलाल' नामक तालाब है। उत्तर काशी से केवल तीस मील की दूरी पर। कहते हैं, स्वर्ग-सौंदर्य ही वहीं जम गया है। उसके नज़दीक जाकर भी हम उसे देख नहीं पाए। वैसे ही गोमुखी भी...।

मैंने सोचा कि यदि भाग्य में होगा तो और कभी यहाँ आ सकते हैं। तब गोमुखी देख सकते हैं।

हम यहाँ आए थे, इसके स्मरणार्थ एक-दो फर्लांग आगे जाकर आ गए। उसके बाद कुछ दिन गंगोत्री में रहकर आसपास के 'महात्मा'ओं से भेंट करने लगे। साधु-संन्यासी एकांत में ध्यान लगाकर बैठें, ऐसे कई स्थल गंगोत्री में हैं। हमारे बुज़र्ग करंदीकर मुग्ध, भावनामयी थे। उन्होंने एक बात कही, ''कौन सच्चा साधु, कौन ढोंगी साधु, ढूँढ़ना ठीक नहीं। कौन किस रूप में होता है, किसे पता! हम सबको सादर प्रणाम करेंगे। जिन्हें हम नमस्कार कर रहे हैं उनमें कोई एक भी महापुरुष होगा तो उनके पैरों के स्पर्श से हमारा जीवन सार्थक हो जाएगा।'' उनके अभिप्राय से स्पर्शमणि भी अन्य मणियों की तरह होती है। उसे ढूँढ़ना आसान नहीं है। स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। तब पता चलता है कि वह स्पर्शमणि है।

करंदीकर के पीछे चलकर अनेक संत-महात्माओं से मिले। उसमें एक महापुरुष के बारे में कहना है। उस ज़माने में वहाँ अस्सी साल के कृष्णाश्रम नामक महापुरुष रहता था। वह विद्वान भी था। पर वह 'मौन' रहता था। किसी से बात नहीं करता था। बारिश-हवा-ठंड की परवाह किए बिना गंगोत्री जैसे हिमावृत प्रदेश में निर्वस्त्र होकर घूमता था। शरीर पर कुछ भी नहीं था।

कुछ सालों पहले इस महापुरुष का नाम पत्रिका में पढ़ा था। मदन मोहन मालवीय जी ने हिंदू विश्वविद्यालय में विश्वेश्वर का मंदिर बनवाने का संकल्प किया था। उन्हें उस मंदिर की नींव रखने के लिए पवित्र संन्यासी की आवश्यकता थी। सिखों को अमृतसर में स्वर्ण मंदिर बनवाते समय उन्हें भी ऐसे एक पवित्र व्यक्ति चाहिए था। उन्हें एक मुसलमान औलिया मिला। मालवीयजी को किसी ने कृष्णाश्रम का नाम सुझाया था। मालवीयजी ने उन्हें लाने के लिए लोगों को भेजा। लेकिन ये तो साधु हैं। वे ऐसे झंझट में कहाँ फँसेंगे? किसी प्रकार एक भगत ने उनको मनाया। साधु उठकर चले। चलते-चलते बनारस पहुँच विश्वविद्यालय के विश्वेश्वर मंदिर की नींव रखकर फिर उसी रास्ते से वापस गंगोत्री पहुँचे। कृष्णाश्रम की मूर्ति आकर्षक लगी। उसे देखने पर उत्तर काशी के विष्णुदास की याद आई।

गंगोत्री में किससे क्या बातें हुई थीं, मुझे याद नहीं। पर अपने यात्रावृत्तांत में मैंने एक जगह लिखकर रखा है : 'भगवान है या नहीं, ऐसा पत्थर जैसा जीवन हमारा। मुझे ऐसी परवशता नहीं चाहिए। मुझे 'भगवान है' यह पता चलना चाहिए, नहीं तो 'वह नहीं है' इसका यक़ीन होना चाहिए। अगर वह नहीं तो 'सत्य' क्या है, स्पष्ट नहीं हुआ, 'मुझे समझ में नहीं आया' यह 'वेदना' तो होनी चाहिए। मेरा हृदय आहत हो अंतरंग रोना चाहिए। 'भगवान है'—मुँह से कहने वाले बहुत लोग हैं, लेकिन उनके जीवन को देखने पर मुझे लगता है ये दरिद्र भगवान की दुनिया में पैदा हुए हैं। लेकिन ऐसा जी रहे हैं जैसे ख़ुद के घर में पैदा हुए हैं। उनकी दुनिया में भगवान के लिए थोड़ी भी जगह नहीं है। सारी दुनिया पर उन्हीं का आक्रमण है। जिह्वा से 'भगवान है' कहने भर से क्या होगा? 'हमें मालूम नहीं' कहना भी इन्हें आता नहीं। अपने-आपको धोखा देनेवाला तरीक़ा है यह?

मैं कहता, "मैं कभी ऐसे रह नहीं सकता।"

पर ऐसी 'पीड़ा' को पैदा करने का काम, मुझसे पहले भगवान को करना चाहिए। उसे मेरी सहायता करनी चाहिए। मेरे मन को उसे छूना चाहिए। आगे? मुझे जो मिला वह मेरे काम नहीं आता। मुझे जो चाहिए, उसके मिले बग़ैर मेरा काम नहीं होता। मुझे जो चाहिए, उसके मिले बग़ैर मेरा मन संतुष्ट नहीं। वह अभी मिला जब ऐसा लगता है तभी मेरा अत:करण रोने लगता है।

बच्चे के पैदाइश के समय नाभि की नाल उसे अंदर खींचती रहती है तो दूसरी ओर जन्म की तीव्रता उसे बाहर खींचती रहती है। मुझे लगता है कि इसी खींचातानी के कारण बच्चा रोता है।

बच्चा अगर नहीं रोता है तो डॉक्टर भी घबरा जाता है। मुझे लगता है, भगवान जब हमारे हृदय को छूता है तब हमारी स्थिति भी ऐसी ही होती है। हम अँधेरे में ही रहते हैं। रोशनी को देखते नहीं। लेकिन रोशनी को पाने की इच्छा शुरू होती है। तब हमसे भी चुप बैठा नहीं जाता। हमारे हृदय में अँधेरा-रोशनी की खींचातानी शुरू होती है। उस वक़्त हम अध्यात्म की दृष्टि से नया जन्म लेते हैं। द्विज हो जाते हैं।

डायरी में दूसरे दिन का विवरण इस प्रकार है :

माँ के घर में रहकर माँ की ओर ध्यान नहीं देंगे तो मुझे उतना बड़ा नुक़सान नहीं होगा। वह माँ होने के कारण मुझ पर वात्सल्य रखती है। लेकिन यदि वह मेरे पीठ पर हाथ फेरते हुए 'बेटे कैसे हो?' पूछती है तो कितनी ख़ुशी होती है? जीवन मानो प्यार से छलक गया, इतनी ख़ुशी होती है। उसकी सेवा से बढ़कर उसका प्यार और वात्सल्य होता है।

भगवान भी ऐसा ही है। उसकी ओर ध्यान न देने पर भी वह मुझ पर करने वाले उपकार करेगा ही। पर जिस दिन मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए "कैसे हो बेटा" पूछेगा, उस दिन उसके उस प्यार से यह प्यार बड़ा होकर दिखाई देगा।

उसके संस्कार में रहने पर भी मुझे उसके प्रेम का अनुभव नहीं हुआ। इसका एक ही कारण है, उसके हाथ ने मेरी पीठ को नहीं सहलाया। वह जब मेरी पीठ का स्पर्श करेगा, तब संस्कार को देखने की मेरी दृष्टि भी बदल सकती है। मुझे यह संसार लावण्य से, सौंदर्य से, प्रेम से भरा-भरा लगेगा। मुझमें जो कमी है, उसी कारण मुझे यह संसार रूक्ष और नीरस दिखाई देता है। भगवान होकर भी मेरे लिए नहीं-सा हो गया है।

वह मुझे अभी नहीं मिला है। मुझे इस संसार से बाहर निकलना है। मुझे नया जन्म लेना है। मुझे 'द्विज' होना है।

मेरा पाषाणत्व, मेरी उदासीनता को यदि निकालना है तो मुझमें जो चेतना है उसे सब तरफ़ पहुँचाने के लिए मुझे मेरे अंदर के सब संस्कारों, रूढ़ियों के पार जाना होगा। उसके बाद ही मेरे जीवन को सही अर्थ मिलेगा, वह परिपूर्ण होगा।

गंगोत्री में हम दो दिन थे। वहाँ एक छोटा-सा मंदिर है। उस मंदिर से सटकर नदी के तट पर एक शिला है। उसे भगीरथ-शिला कहते हैं। उस शिला के समीप एक और शिला है जिस पर बैठकर जीवन के सवालों पर विचार करने लगा। कितनी

सारी समस्याओं के उत्तर ढूँढ़े। गंगोत्री छोड़कर जाने से पहले मेरी आँखों के सामने शंकराचार्य की एक छोटी-सी मूर्ति खड़ी हो गई।

कितना बड़ा व्यक्ति! केवल 32 साल जीवित रहा। इस छोटे-से जीवन में उसने कितना बड़ा कार्य किया। उनका प्रस्थानत्रयी भाष्य अर्थात् ज्ञान का सागर हिंदू धर्म प्रबल होने के लिए यह ताड़पत्र और स्तोत्र? वे कल-कल बहने वाले छोटे-छोटे झरने। मुझे लगता है, उनके स्तोत्र और संगीत से पागल न हो—ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं जन्मा।

शंकरचार्य को कोई द्वैत-भिन्नता मान्य नहीं थी। वे सभी प्रत्येकता के ख़िलाफ़ थे। अमीर-ग़रीब में भेदभाव नहीं करते थे। पापी-पुण्यवान में पृथकत्व नहीं था। स्त्री-पुरुष में भेद नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं, जीव और भगवान में भी कोई भेद नहीं है। यह उनका उपदेश है। वे कहते थे—मानव को एक-एक क़दम आगे बढ़ना है। तब उसे पता चलेगा कि सब तरफ़ एक ही आत्मा है, बाक़ी सब मिथ्या है। दु:ख मिथ्या,भेदभाव झूठ है। हम जिस पर विश्वास करते हैं, वह सब झूठ है, मिथ्या है। सत्य एक ही आत्मा, भगवान, ब्रह्मा। इतना ही नहीं, हमारा समाज तैंतीस करोड़ भगवान और उतनी ही संख्या में भूत-पिशाचों से शिथिल हुआ है, इसे शंकराचार्य ने देखा था। चिंदी-चिंदी हो गया है, उसे कैसे इकट्ठा करें? उन्हें एक उपाय सूझा। सब भगवान शिव, विष्णु, गणपति, सूर्य, और देवी—इन देवताओं के अवतार हैं। बाद में वह खंडोबा हो, वेताल हो, भवानी हो, शांतादुर्गा हो, विठोबा हो, मंगेश हो—ये सब उस मूल देवता के ही अवतार हैं। ऐसे में पूजा करनी हो तो देवता के एक रूप की पूजा करने से नहीं होगा। पाँच रूपों की पूजा होनी चाहिए।

आप कुल देवता अथवा इष्टदेवता को इस पंक्ति के मध्य में रख सकते हैं। लेकिन उसके आस-पास भगवान के अन्य चार रूपों को पूजा के लिए रखिए। पूजा करते समय पाँचों देवताओं की पूजा कीजिए। आपकी पूजा आपके भगवान को अर्पित होनी चाहिए तो पाँचों देवताओं की पूजा इकट्ठी होनी चाहिए।

शंकराचार्य के इस पंचायतन की पूजा से समाज में पृथकत्व नहीं रहा। चिंदी-चिंदी हुआ समाज एकत्रित हुआ। उन्होंने 'हिंदू धर्म में गंदगी भर गई है' कहकर ग़ुस्से से दूसरे धर्म का निर्माण नहीं किया। हिंदू धर्म में ही रहकर हिंदू धर्म को सुधारने का प्रयत्न किया।

शंकराचार्य ने दुनिया में एकता लाने की कोशिश की। इस देश में एकता बनाए रखने का प्रयत्न किया। पंचायतन पूजा से जाति-जाति में एकता लाने के

प्रयत्न के जैसा हमारी जाति को अलग-अलग भगवान ने ही निर्मित किया है। देश में चार दिशाओं में, चार धामों की स्थापना कर उनकी यात्रा करने की प्रथा को कार्यान्वित कर, अलग-अलग भाषा, रीति-रिवाजों में बँटे समाज को एक करने का प्रयत्न भी किया है। सच्चा हिंदू जीवन में एक बार ही सही, द्वारका जाता है। वहाँ से ज्योतिर्मठ अथवा बदरीकाश्रम जाता है। जगन्नाथपुरी जाकर रामेश्वर के दर्शन कर आता है। ये शंकराचार्य जी के ही नियम हैं।

जब हम गंगोत्री में थे, तब मुझे शंकराचार्य जी के एक और महत्वपूर्ण कार्य की याद आई। गंगा नदी यदि गोमुखी से निकलती है तो शंकराचार्य ने गोमुखी के इस ओर गंगोत्री में अठारह मील पर सीमारेखा क्यों खींची? इस प्रश्न का उत्तर मुझे 'नेलंग पास' देखने पर मिला। गंगोत्री जाते समय 'नेलंग पास' नामक चौराहा मिलता है। कैलास मानस को जाने वाले लोग उस राह में जाते हैं। यहाँ से तीस मील पर तिब्बत की सीमा है। मुझे 'पास' देखने पर काका साहब की याद आई। उन्होंने एक बार मुझे कहा था—सेना की दृष्टि से गंगोत्री का महत्त्व अधिक है। अगर कहीं उत्तर दिशा से तिब्बत अथवा चीन ने भारत पर हमला किया तो हमारी सेना के मुखिया को 'लश्करी छावनी' बनवाने के लिए गंगोत्री को ही प्रशस्त स्थान के रूप में चुनना पड़ेगा।

आगे केदारनाथ, ज्योतिर्मठ और बदरीनाथ स्थलों को देखने पर मुझे शंकराचार्य जी ने जहाँ-जहाँ चौराहे हैं वहाँ-वहाँ तीर्थस्थान स्थापित किया है, ऐसा लगा। अर्थात् उनमें 'मिलिटरी माइंड' था, यह स्पष्ट होता है। यहाँ हमेशा सेना को रखना महँगा पड़ सकता है। इन स्थानों को राजाओं के अधीन करने का भी प्रयोजन नहीं है। लोगों में धर्म की भावना को ही जाग्रत करना होगा। इन स्थानों को जाग्रत करके रखना होगा। ठंड के मौसम में बर्फ़ जब गिरता है, ये राहें ख़ुद ही छिप जाती हैं। तब चिंता नहीं होती है। बर्फ़ पिघलकर रास्ता खुलने के बाद यात्रा शुरू होनी चाहिए। लोगों को आते-जाते रहना चाहिए। इन स्थानों को जीवित रखना होगा। इसलिए उन्होंने हिमालय की यात्रा का नियम बनाकर दिया।

भोटिया लोगों को देख मुझमें जो राष्ट्रवादी था, वह क्रोधित हुआ था। वे जो ख़ुश-ख़बरी लाए थे, उससे हिमालय के लोगों में जो उत्साह पैदा हुआ उसे देख मैं चिंतित हुआ। अब शंकराचार्य की इन 'छावनियों' को देख जाग्रत हुआ। मुझमें जो राष्ट्रवाद था, उसे काका साहब से मिली सांस्कृतिक शिक्षा को अब बुनियाद मिली थी। अब हिमालय में नए काम शुरू होने चाहिए। यहाँ नए आश्रम चलाने

चाहिए। यहाँ नई हवा बहनी चाहिए। बूढ़े ही नहीं, युवकों को भी यहाँ आकर रहने की व्यवस्था होनी चाहिए। मन में ही मैंने ख़्वाब देखे।

गंगोत्री छोड़ केदारनाथ की ओर जाते वक़्त मैं केवल 'सौंदर्य का पुजारी' नहीं था, 'साहसप्रिय युवक' भी नहीं था। मुझमें जो 'रचनात्मक क्रांतिकारी' था वह पूर्वारूप से जाग्रत हुआ था।

मेरी आधी यात्रा पूरी हुई थी और आधी बाक़ी थी। मेरे पैर अब उत्साह से उठने लगे। मस्तिष्क भी क्रियाशील हो गया था। हृदय में एक आशा जागी। नया उत्साह भर गया। मैं खुली आँखों से चलने लगा। चलते ही रहा।

अभी पच्चीस दिन चलना था। और भी चार सौ मील का रास्ता काटना था। मैं चलता रहा, चलता ही रहा।

□□□

Indian Institute of Advanced Study
Acc. No. 143645
Date 29/09/15
Shimla

हिमालय में : यह यात्रा-वृत्तांत 1977 में कोंकणी भाषा के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित रवींद्र केळेकार की कृति *हिमालयांत* का हिंदी अनुवाद है। लेखक ने 45 दिनों की यह यात्रा 1956 में की थी। छह सौ मील लंबी यात्रा में उन्होंने जमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ आदि उत्तराखंड के प्रमुख धामों को देखा था। यात्रा के दौरान अंकित छोटी-बड़ी टिप्पणियों को उन्होंने 1967 में लिखना शुरू किया और स्थानीय पत्रों में इसका प्रकाशन हुआ। पुस्तक के रूप में यह 1976 में प्रकाशित हुई। हिमालय के सौंदर्य और आध्यात्मिक परिवेश को महसूस करते हुए लेखक ने अपनी विशिष्ट शैली में इस यात्रा का ऐसा रोचक वृत्तांत लिखा है जो पाठक को खुद यात्रा पर जाने की प्रेरणा देता है।

रवींद्र केळेकार (जन्म : 7 मार्च 1925, कनकोलिम, गोवा, मृत्यु 27 अगस्त 2010) कोंकणी के प्रसिद्ध भाषाविद्, सामाजिक कार्यकर्ता एवं स्वतंत्रता सेनानी। जीवन के प्रारंभ में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रहने के बाद गाँधी दर्शन को अपनाया और वर्धा में रहते हुए उस पर विस्तार से कई पुस्तकें लिखीं। कोंकणी में पाक्षिक पत्रिका *मिरग* का शुभारंभ किया। 1959 में गोवा वापस आकर कोंकणी में लिखने का निर्णय लेने के बाद आपने इस भाषा के साहित्य और संस्कृति को विस्तार देने के लिए कोंकणी भाषा मंडल स्थापित करने में मुख्य भूमिका निभाई। कोंकणी पाठ और संदर्भों तथा भाषाई समस्याओं पर लिखी आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं– *ओ आप ची भाष कोंकणी च* (बोलचाल की भाषा के रूप में कोंकणी पर विचार), *शालेंत कोंकणी कित्यक* (शिक्षा के माध्यम के रूप में कोंकणी) बहुभाषिक *भारतांत भाषेन्चें समाजशास्त्र : द पोलिटिक्स ऑफ़ कोंकणी*। आप कोंकणी के अतिरिक्त मराठी और अंग्रेज़ी में भी लिखते थे।
कोंकणी भाषा मंडल और गोवा कला अकादमी से पुरस्कृत केळेकार को 2001 में उ.प्र. हिंदी संस्थान, लखनऊ द्वारा सौहार्द सम्मान दिया गया। 1995 में पहले विश्व कोंकणी सम्मेलन के अवसर पर आपको 'कोंकणी साहित्य रत्नाकर' पुरस्कार प्रदान किया गया। उन्हें 2006 में ज्ञानपीठ पुरस्कार और 2007 में साहित्य अकादेमी की महत्तर सदस्यता प्रदान की गई थी।

प्रभा वि.भट : कन्नड-कोंकणी-हिंदी में परस्पर अनुवाद। विगत 25 वर्षों से स्नातकोत्तर महाविद्यालयों में अध्यापन एवं शोध निर्देशन। आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं– *रामकुमार वर्मा के काव्य का मूल्यांकन, आठवें दशक की हिंदी और कन्नड महिला उपन्यासकार, दसवें दशक के हिंदी [illegible]* दृष्टि। संप्रति प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कर्नाटक विश

Library IIAS, Shimla
H 910.4054 K 277 H
143645

आवरण : जगमोहन सिंह रावत

ISBN 978-81-260-4322-4
9 788126 043224
₹75

साहित्य अकादेमी